

यजुर्वेदका स्वाध्याय
अध्याय ४०

आत्मज्ञान

ईशोपनिषद्

लेखक

पद्मभूषण पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
साहित्यवाचस्पति, गीतालङ्कार



पारडी (जि. बलसाड)

आत्मज्ञान

ईशोपनिषद्

विषय - सूची



ईशोपनिषद्

यजुर्वेद अध्याय चालीसकी

भूमिका

---

(१) यजुर्वेदकी संहितायें

यजुर्वेदकी कई संहितायें इस समय उपलब्ध हैं। (१) काण्व (२) माध्यंदिन वाजसनेयी, (३) मैत्रायणी, (४) काठक, (५) तैत्तिरीय, (६) कपिष्ठल कठ. इनमें काण्व और माध्यंदिन वाजसनेयी संहिताके अंतिम अर्थात् ४० वे अध्यायमे " आत्मज्ञान " का विचार किया है । यही वेदका अंतिम अध्याय होनेसे, वेदका अंतिम भाग अर्थात् " वेदका अंत " होनेसे इस आत्मज्ञान विभागको " वेदान्त " (वेद+अन्त) कहते हैं।

काण्व-संहिताका जो अंतिम ४० वां अध्याय है, वही " ईशोपनिषद् " नामसे इस समय सुप्रसिद्ध है । माध्यंदिन शाखीय वाजसनेयी संहिताके ४० वे अध्यायके मंत्र केवल १७ हैं, और काण्व शाखाकी संहिताके १८ मंत्र हैं; इसके अतिरिक्त कुछ पाठभेद भी हैं। दोनो पाठ इस पुस्तकमे दिये हैं, तुलना करनेपर पाठकोंको पाठभेदादिका सब पता लग जायगा ।

(२) अध्यायका नाम।

यजुर्वेदके प्रत्येक अध्यायका उद्देश विशेष होता है, और तदनुसार उसका नाम होता है। इस ४० वे अध्यायका नाम " आत्मज्ञान " है। कोई इसको " आत्माऽध्याय, ब्रह्माऽध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त " आदि कहते है। इन सब शब्दोंका भाव एकही है। इसका नाम " ईशोपनिषद् " सुप्रसिद्ध ही है। इस नामका भाव भी यही आशय व्यक्त करता है, कि इसमे " ईशकी विद्या " अथवा " आत्माका ज्ञान " है। जिस सूक्तका जो देवता होता है, उस देवताके अनुसार उस सूक्तका नाम हुआ करता है। जैसा " अग्नि, इन्द्र " आदि देवताओंके सूक्तोंका नाम " अग्निसूक्त, इन्द्रसूक्त " आदि होता है। इसी रीतिके अनुसार इस अध्यायमे " आत्मा अथवा ब्रह्म " का वर्णन होनेसे इसका नाम " आत्माध्याय, आत्मसूक्त किंवा ब्रह्मविद्या " होना स्वाभाविकही है। परंतु यहां कई विद्वान् ऐसी शंका करते हैं कि, इसमें " अग्नि " आदि भिन्न देवताओंके नाम आनेके कारण यह सब अध्याय एकही देवताका वर्णन नहीं करता है, अथवा ईशवर्णनसे भिन्न जो अग्नि आदि देवोंका वर्णन इस अध्यायमे है, वह प्रक्षिप्त है। इसलिये इस आक्षेपका यहां अधिक विचार करना आवश्यक है।

इस अध्यायके देवताका विचार करनेके पूर्व इस बातको कहना योग्य है कि जिस समय दशोपनिषद् अथवा एकादशोपनिषद्का संग्रह इकट्ठा हुआ, अथवा एकत्रित किया गया, उस समयसे अग्नि आदि देवताओंके मंत्र इसमे सर्व सम्मतिसे माने गये है। उक्त उपनिषदोंका संग्रह आजकलका नहीं है। सहस्रों वर्ष पूर्व उसका संग्रह हो चुका था कि जिस समय वैदिक विद्याकी परिपाटी जीवित और जाग्रत थी। उस समयसे " ईशोपनिषद् " में उक्त मंत्र चले आये हैं, और ईशोपनिषद्का कोई ऐसा पाठ नहीं है कि जिसमे " अग्ने नय " आदि मंत्र नहीं हैं। इस परिपाटीके क्रमको विचार कोटीमें रखनेसे पता लग जायेगा कि, " अग्ने नय " आदि मंत्र प्रक्षिप्त नहीं हैं। तथापि हम देवता-विचार करकेही इस बातका निश्चय करेंगे।

(३) इस सूक्तका देवता।

जिस सूक्त अथवा मन्त्रमे जिसका वर्णन होता है उस सूक्त किंवा मन्त्रका वह देवता समझा जाता है। किसी किसी सूक्तमें देवता-वाचक एकही शब्द प्रारभसे अततक प्रयुक्त हुआ होता है परतु कई ऐसे सूक्त है कि, जिनमे एकही देवताके वाचक अनेक नाम उस सूक्तके अनेक मत्रोमे प्रयुक्त होते हैं। जिसमे देवताका एकही नाम प्रयुक्त होता है, उस सूक्तके देवताके विषयमें सदेहही नही होता; परतु जिस सूक्तमे विभिन्न नामोका उपयोग होता है, उस सूक्तके देवताके निश्चय करनेमे शका उत्पन्न होती है। इसी हेतुसे इस अध्यायके देवताके विषयमे कई विद्वानोंको सदेह हुआ है, इसलिये इसके देवताका यहा विचार करेगे। देखिए, देवता निश्चयकी रीति यह है कि प्रथम प्रत्येक मत्रका देवता-सूचक शब्द देखना चाहिये जैसा—

मंत्र (वाजसनेयी सहिता)	देवतासूचक शब्द	परिशेष
१ ईशा वास्य	ईश	ईश
२ कुर्वन्नेवेह	०	०
३ असुर्या नाम	०	०
४ अनेजदेक	एक, एतत्	०
५ तदेजति	तत्	०
६ यस्तु सर्वाणि	आत्मा	आत्मा
७ यस्मिन्त्सर्वा०	आत्मा	आत्मा
८ स पर्यगात्	स, कवि,	कवि
९–१४ अन्ध तम	०	०
१५ वायुरनिल	ॐ	ओ
१६ अग्ने नय	अग्नि	अग्नि

१७ हिरण्मयेन	सत्यं	सत्य
	पुरुषः	पुरुषः
	ब्रह्म	ब्रह्म
(काण्व-संहिता)		
१६ पूषन्नेकर्षे	पूषा	पूषा
	यम	यम

देवतावाचक जो शब्द हैं, उनमे सर्वनाम, विशेषण आदि छोडकर जो मुख्य शब्द है, वे " ईश, आत्मा, कवि, ओम्, अग्नि, सत्य, पुरुष, ब्रह्म, पूषा, यम " ये हैं। वैदिक रीतिसे ये सब शब्द एकही देवताके सूचक हैं। " ब्रह्म, आत्मा, ओं, पुरुष, सत्य " इन शब्दोंके विषयमें किसीको शंकाही नहीं हो सकती। जो कोई शंका है, वह " पूषा, यम, अग्नि " इत्यादि शब्दोंके विषयमें है। इसलिये इसका विशेष विचार करना चाहिये।

(४) अनेक नामोंसे एक तत्त्वका वर्णन।

यदि यह सूक्त " आत्म-ज्ञान " का प्रतिपादक है, तो यह बात स्वयंही सिद्ध होगी कि " एकही आत्माके सब नाम हैं। " यह अध्यात्मशास्त्रकी कल्पना माननेसे विभिन्न देवताओंके नामोंसे एकही " आत्मा " का प्रतिपादन होता है, वेदकी भी यही कल्पना है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

" एकही सद्वस्तुको ज्ञानी जन बहुत प्रकार वर्णन करते हैं। उसी एकको इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं। " इस मन्त्रमें " अग्नि, यम " आदि शब्द है जोकि ईशोपनिषद्में तथा वा० य० अ० ४० में आये हैं। इस मन्त्रसे यह बात सिद्ध होती है कि, नामोंके भेदसे देवताभेद नहीं होता। यदि यह ऋग्वेदका कथन माना जायगा, तो बहुतसे

विवाद मिट जायगे। परतु शका करनेवाले विद्वानोको यह मत माननीय नही है !! इसका कारण इतनाही है, कि उन लोगोने अबतक वह वैदिक दृष्टि प्राप्त नही की है, कि जिसकी वेदाध्ययनके समय अत्यत आवश्यकता है। तथापि यथाशक्ति उनकी शकाका निरसन करना आवश्यकही है। उक्त ऋग्वेदके कथनके साथ निम्न मत्र भी देखिये—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(वा० य० ३२।१)

" वही अग्नि, वही आदित्य, वही वायु और निश्चयसे वही चद्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही आप् तथा प्रजापति भी वही है। " इस मत्रमे स्पष्ट कहा है कि अग्नि आदित्य आदि नामोसे उसीका वर्णन होता है, इतनाही नहीं परतु अग्नि आदिकी सब शक्ति उसीके कारण अग्निमे रहती है। वही एक आत्मा अग्नि आदि रूपोमे कार्य कर रहा है, इसलिये अग्निके वर्णनसे उसीका वर्णन होता है। जैसा उपनिषदोमे कहा है कि " वह आत्मा श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, वाणीकी वाणी, प्राणका प्राण और श्रोत्रका श्रोत्र है " (केन० उ० १।२) उसी प्रकार बाह्य सृष्टिमे ' वह आत्मा अग्निका अग्नि, सूर्यका सूर्य, वायुका वायु, जलका जल," है। इस वर्णनमे " अग्नि " आदि शब्द जिस रीतिसे आत्माके वाचक होते हैं, उसी रीतिसे ईशोपनिषद्मे " अग्नि, पूषा " ये शब्द भी आत्माके वाचक है। इसके अतिरिक्त—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
(ऋ० १०।८२।६; वा० य० १७।२७)

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥
(अथर्व० २।१।३)

" वह आत्मा हम सबका पिता, जनक और बधु है। वह सब भुवनों और स्थानोंको यथावत् जानता है। (य देवाना नामध) वह सब देवोंके नाम अपने लिये धारण करता है। और वह केवल एकही है। उस प्रश्न करनेयोग्य आत्माके आधारसे सब अन्य भुवन अर्थात् पदार्थ रहते हैं। " इस वर्णनमे निम्न वाक्य अत्यत महत्त्वपूर्ण हैं—

य एक एव, देवानां नाम-धः ।

" जो एक ही, देवोके नाम धारण करता है। "

" अग्नि ' आदि देवताओके नाम उसीका वर्णन करते है, इसलिये ये नाम उसके वाचक होते हैं। यह मत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमे है। विशेषत जिस यजुर्वेदके ४० वे अध्यायका हम विचार कर रहे हैं, उसीके १७ वे अध्यायमे यह मत्र है। इसलिये इस अतर्गत प्रमाणसे भी " अग्नि " आदि नाम उस आत्माके वाचक सिद्ध होते हैं। आत्माध्यायमे सगृहीत होनेसे अग्नि आदि पदोका आत्मा अर्थ स्पष्ट ही था, परतु इस अतर्गत प्रमाणसे वही बात पुन सिद्ध हो गई है। और देखिये—

त्वमग्न इंद्रो वृषभः सतामसि, त्व विष्णुरुरुगायो नमस्य. ' त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते० ॥ ३ ॥ त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः। त्वमर्यमा सत्पतिः० ॥४॥ त्वमग्ने त्वष्टा० ॥ ५ ॥ त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः ॥ ६ ॥ (ऋ २।१)

" हे अग्ने ! तूही इन्द्र है, सज्जनोमे बलवान् तू ही है, नमनके लिये योग्य विष्णु है, तू ही ब्रह्मा है ॥ हे अग्ने ! तू वरुण राजा है और स्तुत्य मित्र तूही होता है, तूही अर्यमा है॥ तू त्वष्टा है, तू रुद्र है। " इत्यादि मत्रोमे अग्नि ही अन्य देव है " यह बात स्पष्ट कही है। इसी प्रकार अन्य देवताओके सूक्तोम भी वे अग्नि ही हैं ऐसा भी वर्णन है। इस सब वर्णनका तात्पर्य ही यह है कि सब देवताओके नाम एक ही " आत्मतत्त्व " का वर्णन करते हैं। तथा—

अग्नायमिश्चरति प्रविष्टः ॥ (वा य ५।४, अथर्व ४।३९।९)

" एक अग्निमे दूसरा अग्नि प्रविष्ट है। " इस वर्णनका तात्पर्य एक (जीव) आत्मामे दूसरा (परम) आत्मा प्रविष्ट है यही है। इस प्रकार विविध मंत्रभागोका वर्णन देखनेसे " अग्नि " शब्द आत्मावाचक है, ऐसा ज्ञान हो सकता है। जिस कारणसे अग्नि शब्द आत्मावाचक सिद्ध होगा, उसी कारणसे " यम, पूषा " आदि शब्द भी आत्मावाचक ही सिद्ध होगे। इसलिये उस विषयमे अब यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इस विषयमे प्रत्येक देवताके संबंधके आवश्यक प्रमाण दिये जा सकते हैं; परंतु ऊपर जो वैदिक वर्णनकी रीतिका नमूना बताया गया है, उससे वक्तव्य बात सिद्ध हो गई है। इसलिये अब इसके विषयमें अधिक प्रमाण देकर विषय लंबा करनेकी कोई आवश्यकता नही है। तात्पर्य यह कि इस अध्यायमे जो " अग्नि, यम, पूषा " आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे " ब्रह्म, आत्मा, ईश " के ही गुणबोधक पर्याय शब्द हैं। इसलिये यह संपूर्ण अध्याय एक ही आत्माका वर्णन किंवा ब्रह्मका वर्णन कर रहा है। अर्थात् नामोकी भिन्नतासे एकही अभेद स्वरूप सद्वस्तुका वर्णन इस अध्यायमे हुआ है। इसका विचार करनेके लिये अब ऋषिके नामका भी विचार करते हैं—

(५) इस अध्यायका ऋषि।

किसी किसी समय ऋषिका नाम भी देवताका निश्चय करनेके लिये सहायक होता है। इसलिये इस अध्यायके ऋषिके नामका विचार करना चाहिये। अजमेर मुद्रित "यजुर्वेद–संहिता" के ४० वे अध्यायका "ऋषिः दीर्घतमाः।" ऐसा छपा है। परंतु यह अशुद्ध है क्योंकि यजु–सर्वानुक्रमणीमे—

" ईशावास्यमष्टौ। अंधंतमो नव। द्वे सप्तदश। "

(अनुवाक सूत्राध्याय)

ईशा वास्यमात्मदेवत्य आनुष्टुभोऽध्यायः। अनेजदेकं त्रिष्टुप् स परि जगती। वायुरनिलं यजुषी।

(यजु–सर्वानुक्रमणी. ४।९)

ऋचं वाचं पंचाध्यायी दध्यङ्डाथर्वणो ददर्श ।
(यजु सर्वानुक्रमणी. ४।५)

यजु. अ. ३६ से ४० तकके पांचों अध्यायोंका " दध्यङ् अथर्वा " ऋषि कहा है। यही भाव शतपथमें भी है—

दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदांचकार।
(श ब्रा १४।१।१।२०)

इस प्रकार यजुर्वेदके अंतिम पंचाध्यायीका " दध्यङ् अथर्वा " ऋषि है। यही भाव अन्य भाष्यकार स्वीकार करते हैं—

(१) आत्मदेवत्य अनुष्टुप्छन्दस्कोऽध्यायो दधीचाथर्वणेन दृष्टः ।
(महीधरभाष्य)

(२) ईशा वास्यं । तिस्रोऽनुष्टुभः । दध्यङ् आथर्वण ऋषि- ।
(उव्वट भाष्य)

" ईशावास्य आदि अध्यायका दध्यङ् अथर्वा ऋषि है। " इस अथर्वाका ब्रह्मवर्णनके साथ विशेष संबंध है। प्रत्युत अथर्ववेदका नाम ही " ब्रह्मवेद " है। देखिये—

" ब्रह्मवेद "

श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥
(गो. ब्रा १।९)

एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः । येऽङ्गिरसः स रसः। ये ऽथर्वाणस्तद्भेषजम् । यद् भेषजं तदमृतम् । यदमृतं तद् ब्रह्म।
(गो ब्रा ३।४)

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ।
(गो ब्रा २।१६)

' चार वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और ब्रह्मवेद '' इसमें अथर्ववेदका नाम " ब्रह्मवेद " आया है। अथर्ववेदमें आत्मा और ब्रह्मके सूक्त बहुतही

हैं। अथवा 'अथर्वा' ऋषिके पश्चात् 'ब्रह्मा' ऋषिके मंत्र इस वेदमें अधिक हैं। इसलिये भी इसका नाम ब्रह्मवेद अन्वर्थक है। इसी ब्रह्मविचारके साथ संबंध रखनेवाला "अथर्वा" यह ऋषिनाम है इसीलिये गोपथमें इस नामकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है—

तथद्ब्रवीदथार्वाङेन अन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्।
(गो ब्रा १।४)

"इसको अथर्वा इसलिये कहा गया कि, इसने (अथ अर्वाक् एनं अन्विच्छ) इसका यहां ही ढूंढ ऐसा कहा।" 'अथ+अर्वाक्' ऐसा कहनेसे 'अथर्वा' कहा गया। इसका तात्पर्य यह है कि, परमेश्वरको बाहर कहां ढूंढते हो यहां अपने अंदर इसको ढूंढो, ऐसा जिसने कहा वह 'अथर्वा' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार 'अथर्वा' शब्दका अर्थ सिद्ध कर रहा है कि, इसका आत्मविचारके साथ संबंध है। तथा—

अथर्वाण अथनवन्त। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध।
(निरु. नै ११।२।६)

"अथर्व" का अर्थ "स्थिर" हैं। 'थर्व' का अर्थ गति है इसलिये "अ-थर्वा" का अर्थ "गति-रहित" है। योगसाधन करनेके पश्चात् जो मनकी स्थिरता, एकाग्रता, अचंचलता सिद्ध होती है उसका दर्शक यह शब्द है। स्थिरबुद्धि, स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ, योगी यह इसका भाव है। इस प्रकारके योगीका ब्रह्मविचारके साथ संबंध होना स्पष्टही है। इसलिये इस अध्यायका "अथर्वा" ऋषिनाम बता रहा है कि, इस अध्यायमें ब्रह्मविचार किंवा आत्मविचार हुआ है, तथा इसमें आये हुए "अग्नि' यम, पूषा, पुरुष" आदि शब्द इस प्रकरणमें आत्मावाचक अथवा ब्रह्मवाचक ही निश्चयसे हैं।

देवताका विचार और ऋषिनामका विचार करनेसे "अग्नि" आदि शब्दोंका भाव आत्मविषयक ही इस अध्यायमें होना योग्य है, यह बात सिद्ध हो गई।

(६) ईश उपनिषद्‌का महत्त्व ।

सब अन्य उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथोंमें हैं। यह एकही उपनिषद् ऐसा है कि जो मंत्र संहितामें है । ब्राह्मणों और आरण्यकोंकी अपेक्षा मंत्र संहिताका मान और प्रामाण्य विशेष होनेसेही इस ईशोपनिषद्‌को पहिला स्थान प्राप्त हुआ है । यही एक "मंत्रोपनिषद्" है । और इसीके आधारपर अन्य उपनिषदोंकी रचना हुई है । जो ज्ञान अन्य उपनिषदोंमें है वह इसमें है, परंतु जितना उपदेश इसमें है उतना अन्य उपनिषदोंमें है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्य उपनिषदोंकी व्याख्या करनेके प्रसंगमें इसका सप्रमाण विचार किया जायगा, और वहांही किस उपनिषद्‌का इसके किस मंत्रसे कैसा संबंध है, यह बताया जायगा । उदाहरणके लिये यहां इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि—

(१) केन उपनिषद्– "नैनद्देवा आप्नुवन्" इस ईशोपनिषद्‌के मंत्रभाग (वा० य० ४०।४; ईश उ० ४) की व्याख्या है । इसका विशेष स्पष्टीकरण "केन उपनिषद्" की भूमिकामें किया गया है ।

(२) बृहदारण्यक उपनिषद् ईशोपनिषद्‌की दौडती टीकाही है । संपूर्ण यजुर्वेदके ४० अध्यायोंपर "दौडती टीका" ही शतपथ ब्राह्मणके १४ कांड हैं। इससे स्पष्ट है कि, यजुर्वेदके अंतिम ४० वे अध्यायकी टीका १४ वे कांडमें है । १४ वां कांडही बृहदारण्यक है । जो पाठक दोनोंकी परस्पर तुलना करेंगे, उनको यह विषय स्वयं स्पष्ट हो जायगा ।

इस प्रकार इस य० अ० ४० का अर्थात् ईशोपनिषद्‌का संपूर्ण आत्मविद्याके ग्रंथभंडारमें अत्यंत महत्त्व है । ऐसा समझिये कि यह अध्याय सब आत्मविद्याके ग्रंथोंमें शिरस्थानमें अथवा मुख्य स्थानमें विराजता है । इसी कारण सब उपनिषदोंमें भी इसको प्रथम स्थानपर गिनते हैं ।

(७) इस अध्यायकी रचना ।

इस उपनिषद्‌की रचना बडी विचार करनेयोग्य और बडी विलक्षण है ।

इसमें चार अधिकार हैं। जो कुछ अध्यात्मविषयक वक्तव्य है, वह सूत्र रूपसे और साराश रूपसे प्रथम अधिकारमेही कहा गया है, तत्पश्चात्के अधिकारोंमे उन उपदेशोकाही विस्तार अथवा स्पष्टीकरण है। इसके अधिकार निम्न प्रकार हैं—

(१) प्रथम अधिकार–मंत्र १ से ३ मंत्रकी समाप्तितक है।
(२) द्वितीय अधिकार–मंत्र ४ से ७ मंत्रकी समाप्तितक है।
(३) तृतीय अधिकार–मंत्र ८ से १४ मंत्रकी समाप्तितक है।
(४) चतुर्थ अधिकार–मंत्र १५ से अध्याय समाप्तितक है।

प्रत्येक अधिकार समाप्त होनेकी सूचना, उस अधिकारमे वर्णन किये हुए ज्ञानकी फलश्रुति कहनेसे, मिलती है। प्रत्येक अधिकारमे और सूक्ष्मभेद हैं उनका विचार अध्यायकी व्याख्यामे किया जायगा। यहा अधिकारके ज्ञानका थोडासा स्वरूप बताता हूं—

प्रथमाधिकारमे " ईशा " इस एकवचनसे " परमेश्वर एक है " इसका उपदेश किया है, परंतु यहा जातिवाचक एकवचन माननेपर एकवचन होनेपर भी अनेक ईश्वर होनेकी कल्पना उत्पन्न हो सकती है। जैसा "मनुष्य" कहनेसे (१) एक मनुष्य, अथवा (२) मनुष्यकी जाति, ऐसे दोनो अर्थ सम्भवनीय है। इस संशयकी निवृत्तिके लिये द्वितीय अधिकारका तथा अन्य अधिकारोंका प्रारंभ है। देखिये—

प्रथम अधिकार– " ईशा " ईश्वर एक है।
द्वितीय अधिकार– " एकं " वह एकही है।
" अनेजत् " वह नही हिलता।
" पूर्वम् " वह सबसे प्राचीन है।
तृतीय अधिकार– " स पर्यगात् " वह व्यापक है।
" परि–भूः " सर्वोपरि है।
" स्वयं–भूः " स्वय अपनेही आधारसे है।
चतुर्थ अधिकार– " सत्य " वह सत्य है।

इस प्रकार प्रथम अधिकारके कथनका अधिक स्पष्टीकरण अन्य अधिकारोंमें है। इसका क्रम निम्न प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट होगा—

प्रश्न— इस जगत्का स्वामी कौन है?

उत्तर— इसका स्वामी ईश्वर है और वह सर्वज्ञ है। (ईश)

प्रश्न— ईश्वर कितने हैं?

उत्तर— ईश्वर एकही है, अनेक नहीं हैं। (एक)

प्रश्न— वह यहां आ सकता है?

उत्तर— वह सर्वत्र है, इसलिये एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेकी उसको आवश्यकता नहीं है। (अनेजत्)

प्रश्न— वह कबसे है?

उत्तर— वह सबसे प्राचीन है, उसके पूर्व कोई भी नहीं है। (पूर्व)

प्रश्न— वह कहा रहता है?

उत्तर— वह सर्वत्र फैला है। (स पर्यगात्) कोई स्थान उससे रहित नहीं है। वह सबसे श्रेष्ठ है। (परिभूः)

प्रश्न— वह किस आधारसे रहता है?

उत्तर— वह अपनीही शक्तिसे रहता है। (स्वयंभूः) उसके लिये किसीके आधारकी आवश्यकताही नहीं है।

प्रश्न— क्या वह भविष्यमें भी रहेगा?

उत्तर— वह त्रिकालाबाधित है। (सत्य·) वह सर्वदा एक जैसाही रहता है।

इस प्रकार एकही बातका विस्तार क्रमशः इन अधिकारोंमें हुआ है। प्रत्येक पद पदका परस्पर संबंध देखनेसे और सूक्ष्म-विचारके साथ उनका आशय समझनेसे बडाही आनंद प्राप्त हो सकता है, और अध्यात्म-विद्याके गूढ

सिद्धांत विशद हो सकते हैं। जैसा " एक ईश्वर " के विषयमें प्रथम अधिकारमें वर्णित बातोंका स्पष्टीकरण आगेके अधिकारामें हुआ है, उसी प्रकार अन्यान्य विषयोंका भी है। इसलिये पाठक इस दृष्टिसे इस अध्यायका अभ्यास और मनन करें।

(८) भाष्यकारोंका कथन।

कई भाष्यकारोंने इस अध्यायके विषयमें अवास्तविक बातोंको प्रकट किया है, जैसा—

(१) श्री शंकराचार्यजी कहते हैं कि " ईशावास्यमित्यादयो मंत्रा कर्मस्वविनियुक्ता, तेषां अकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं च आत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादिवक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्यते। इति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः। (ईश० शांकर-भाष्य)

" ईशावास्य० आदि मंत्र कर्मोंमें विनियुक्त नहीं हुए हैं क्योंकि इन मंत्रोंमें आत्माका उत्तम वर्णन है। आत्मा शुद्ध, अपापविद्ध, एक नित्य, अशरीरी, सर्वव्यापक आदि गुणोंसे युक्त है, ऐसा जो वर्णन इस उपनिषद्में है, वह कर्मसे विरोधी है, इसलिये इन मंत्रोंका विनियोग कर्मोंमें न होना ही युक्त है। "

श्री० पूज्य शंकराचार्यजीकी यह युक्ति वास्तविक प्रबल नहीं है, यही बात यहां बतानी है। यदि आत्माका वर्णन होनेसे मंत्रोंका विनियोग कर्मोंमें नहीं होना चाहिये, तो यजु० अ० ३२ के मंत्रोंमें एकही आत्माका वर्णन है, तथापि ' सर्वमेधयज्ञ " नामक यज्ञकर्ममें उस अध्यायका विनियोग किया गया है। आत्माके जो " शुद्ध, निष्पाप, एक " आदि गुण इस अध्यायमें वर्णन किये गये हैं, वेही उसी अध्यायमें हैं। देखिये—

सर्वमेधप्रकरण।	ईशोपनिषद्।
(यजु अ ३२)	(यजु अ ४०)
शुक्र (मंत्र १)	शुद्ध (मंत्र ८)

अमृत (मं १०)	अपापविद्ध (मं ८)
सत् (मं १)	एक (मं ४)
ऋत (मं १२)	(सत्यं) नित्य (मं १५)
न प्रतिमा (मं ३)	अकाय (मं ८)
विभू (मं ८)	पर्यगात (मं. ८)

इस प्रकार जो गुण आत्माके वर्णन रूपमें दिये गये हैं वे सब अध्याय ३२ में हैं, तथापि अध्याय ३२ कर्ममें विनियुक्त है और अध्याय ४० नहीं है। इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं हैं।

इस प्रकारके कथनसे जो वृथा दोषारोप वेदके संहिताओंपर आता था, और जिससे मंत्र मंत्रोंमें आत्माका वर्णन नहीं है, ऐसा जो आशय व्यक्त होता था, उसी बातका खंडन यहां किया है।

मंत्रोंको जबरदस्ती किसी कर्ममें विनियुक्त करनेसे ही केवल उनमें जो आत्मविद्या है, वह दूर नहीं हो सकती। इसका उत्तम उदाहरण यजु० अ० ३२ है। इसकी व्याख्या (एक ईश्वर उपासना ' नामसे) स्वतन्त्र रूपसे छपी है। पाठक इस स्थानपर उसको अवश्य देखें और अनुभव करें, कि उसमें भी कितनी आत्मविद्या है। अस्तु। यहां कहना इतनाही है कि, वेदकी संहिताओंका मुख्य वक्तव्य " आत्माका वर्णन " ही है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।

' सब वेद उस आत्माका वर्णन करते हैं। ' यही सत्य है,

इस प्रकार भाष्यकारोंने अपने पूर्व ग्रहहा स्थान स्थानपर बताये हैं। इसका और एक उदाहरण देखिये—

(९) वेदान्तके अध्ययनका काल।

इस अध्यायके अध्ययनके कालके विषयमें लिखते लिखते श्री० उव्वट और महीधर ये दोनों आचार्य लिखते हैं—

" समाप्तं कर्मकाडं, इदानीं ज्ञानकांडं प्रस्तूयते ॥
.. । दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः स्वशिष्यं पुत्रं वा
गर्भाधानादिभिः सस्कारैः सस्कृतशरीरं, अधीतवेदं,
उत्पादितपुत्रं, .शिक्षयन्नाह ॥ " (उव्वटभाष्य अ ४० । १)
" एकोनचत्वारिंशताध्याये कर्मकांड निरूपितम् । इदानीं
कर्माचरणशुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानकाडमेकेन
अध्यायेन निरूप्यते । ईशा वास्यमित्यादि मंत्राणां
कर्मसु विनियोगो नास्ति । तेषां शुद्धत्वैकत्वापाप-
विद्धत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वाद्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादनात् ।
तच्च कर्मणा विरुध्यते । . ईशा वास्य .... अध्यायो
दध्याथर्वणेन दृष्टः । गर्भाधानादिसस्कारसस्कृतं, अधीतवेदं,
जनितसुतं .. . शिष्य पुत्रं वा ऋषिरुपादिशन्नाह ।
(महीधर भाष्य ४० । १)

(१) यजु. अ ३९ तक कर्मकांड समाप्त हुआ, अब ज्ञानकांडका प्रारंभ होता है । इ० ॥ "

" (२) दध्यङ् आथर्वण ऋषि अपने पुत्र अथवा शिष्यको इस अध्यायका उपदेश करता है जो शिष्य अथवा पुत्र गर्भाधानादि सस्कारोंसे सुसस्कृत है, जिसने वेदका अध्ययन समाप्त किया है, और पुत्र उत्पन्न किये हैं ॥ "

ये दो कथन उक्त दोनों भाष्योंमें समान ही हैं। पहिले कथनका खडन श्री० शंकराचार्यजीके मतकी समालोचना करनेके समय किया ही है । अब दूसरे कथनका विचार करना है । जिसने तो विरक्त वृत्तिसे रहकर आजन्म ब्रह्मचर्यमें रहना है, उसके लिये जिस समय चाहे ब्रह्मविद्याका अध्ययन करनेका अधिकार होगा । पुत्र उत्पन्न करनेके पूर्व वह ब्रह्मविद्यामें प्रविष्ट हो सकता है, जैसे कि श्री० शंकराचार्य स्वयं हुए थे । परंतु जो गृहस्थी होना चाहते हैं ऐसे साधारण जनोंके लिये जो मार्ग उक्त दोनों आचार्योंने अपने भाष्यमें लिखा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि, पुत्र उत्पन्न करनेके पश्चात् ही वह

इस ईश उपनिषद्का अध्ययन कर सकता है । अर्थात् ब्रह्मविद्याके अध्ययनका प्रारंभ करनेका समय पुत्र उत्पन्न होनेके पश्चात् है । परंतु यही बडा भारी भ्रम है । अथर्ववेदमें ब्रह्म साक्षात्कारका फल वर्णन किया है, वह यहां देखिये-

> यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
> तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
> न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
> पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
>
> (अथर्व १० । २)

" जो अमृतमय ब्रह्मपुरीको जानता है, उसको ब्रह्म और अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, उसके चक्षु और प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते । "

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे उस ब्रह्मज्ञानीको सुदृढ इंद्रिय, दीर्घ आयुष्य और सुप्रजानिर्माणकी शक्ति प्राप्त होती है । यह ब्रह्मज्ञानका फल है । वेदांतशास्त्रके अनेक लाभोंमें "सुप्रजानिर्माण-शक्तिकी प्राप्ति" यह भी एक लाभ है । यदि यह सत्य है तो गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके पूर्व ही ब्रह्मविद्याका अध्ययन होना चाहिये, और उसको ब्रह्मपुरीका पता लगना चाहिये । परंतु उक्त आचार्य इस वैदिक सिद्धांतके विरुद्ध ही कह रहे हैं, कि पुत्रोत्पत्तिके पश्चात् यह उपनिषद् पढें, इसलिये उनका मत चिंतनीय ही है । आत्मज्ञानसे गृहस्थके आचरणपर सुपरिणाम होता है, इसलिये ब्रह्मविद्याका अध्ययन गृहस्थाश्रमके पूर्वही होना आवश्यक है ।

पाठक भी इस अध्यायके मननके पश्चात् जान सकते हैं कि, इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही है कि जो पूर्व आयुमें ज्ञात होनेसे हानिकारक सिद्ध हो; प्रत्युत इस अध्यायके सबही उपदेश आबालवृद्धोंको अत्यंत लाभदायक हैं, ऐसा प्रत्येक पाठक अध्ययनके पश्चात् अनुभव कर सकता है । इसलिये इसका अध्ययन पूर्व आयुमें ही होना आवश्यक है ।

(१०) निष्काम-कर्मयोग।

श्री० शंकराचार्यजी कहते हैं कि ज्ञान और कर्मका विरोध इस उपनिषद्‌में है और सर्वत्र है। परंतु इस उपनिषद्‌का विचार करनेसे पता लग जाता है, कि ज्ञान और कर्मका समुच्चय इसको अभीष्ट है। यह उपनिषद् अथवा यह *अध्याय कर्मयोगका निषेधक नहीं है और कर्मत्यागका प्रवर्तक भी नहीं है।* देखिये इसके मंत्रोंमें क्या क्या उपदेश कहा है।

मंत्र १- 'त्यक्तेन भुंजीथा' यह आज्ञा यहां है। त्यागपूर्वक भोग करनेका उपदेश यहां है। " निष्काम-कर्मयोग " का बीज इसमें है। श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस निष्काम कर्मकी महती गायन की गई है, उसका मूल बीज इस मंत्रके इन पदोंमें है।

मंत्र २- " कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा " करनेका उपदेश इस मंत्रमें है। प्रथम मंत्रमें कहे हुए निष्काम भावसे कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करनी चाहिये। यह दोनों मंत्रोंका इकट्ठा तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय मंत्रका वास्तविक कोई विरोध नहीं है, परंतु श्री० शंकराचार्यजी कहते हैं कि पहिला मंत्र ज्ञानीके लिये है और दूसरा मंत्र ज्ञानके अनधिकारीके लिये है। इस प्रकार दोनोंका परस्पर विरोध है। स्पष्टीकरणमें इनकी परस्पर संगति जो देखेंगे उनको इनमें कोई विरोधही नहीं दिखाई देगा। ' परमेश्वर सर्वत्र है, त्यागपूर्वक भोग करो, लालच न करो। निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो, यही एक मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं, नरको सत् कर्मका लेप नहीं लगता। " यह दोनों मंत्रोंका तात्पर्य है। क्या इसमें परस्पर विरोध है ? वास्तवमें दोनों मंत्रोंका आशय मिलकरही पूर्ण मानवधर्म बनता है। और इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंकी ओर देखना चाहिये।

मंत्र ३- ' आत्मघातक कर्म करनेवालोंका अधःपात होता है ' ऐसा तीसरे मंत्रमें कहा है। तात्पर्य यह है कि कोई इस प्रकारके आत्मघातक कर्म न कर

और सब आत्मोन्नतिकारक पुरुषार्थ करकेही अपना अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करे।

मंत्र ४– इस चतुर्थ मंत्रमें " मातरिश्वा अपः दधाति " यह वाक्य है। माताके उदरमें रहनेवाला गर्भस्थ जीव भी कर्मोंको धारण करता है, यह इसका तात्पर्य है। पहिले जन्ममें किये हुए कर्म संस्कार रूपसे गर्भमें भी रहते हैं, यह इसका तात्पर्य है। कर्म छूटते नहीं हैं। निष्काम भावसे ही कर्मके बंधनको तोडना चाहिये। यह इस उपनिषद्का आशय है।

मंत्र ५– इस मंत्रमें " तद् एजति " वह ब्रह्म सबको गति देता है। ऐसा कहनेसे उसके एक विशिष्ट कर्मका उल्लेख किया है। आत्मा ही सब जड जगत्में हलचल करता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसीको भी बिलकुल कर्महीन रहना असंभव है। भगवद्गीतामें भी इसी हेतुसे कहा है कि " कोई क्षणमात्र भी कर्म न करता हुआ रह नहीं सकता।" (भ. गी. ३।५) क्योंकि आत्माका स्वभावही हलचल करना है। इसलिये यह मंत्र भी कर्मसूचक ही है।

मंत्र ८– इस मंत्रमें आत्माके जो गुणबोधक शब्द हैं वे भी कर्मबोधक ही हैं। " कवि, मनीषी, परिभू " ये शब्द विशेष व्यापारके ही बोधक हैं। तथा " अर्थान् व्यदधात् " यह वाक्य तो निःसंदेह उसके कर्मका ही बोधक है। " सब अर्थोंको वह ठीक प्रकार करता है। " यही उसका पुरुषार्थ है अथवा स्वभाव है।

मंत्र ९–११– में " विद्या और अविद्या " अर्थात् आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञानकी उपासना करनेका उपदेश है। यहां कईयोंके मतसे " विद्या अविद्या " ये शब्द ज्ञान और कर्मके बोधक हैं। इस दृष्टिसे भी ये मंत्र ज्ञान और कर्मके समुच्चयका उपदेश कर रहे हैं, नकि ज्ञान और कर्मके विरोधका।

मंत्र १२–१४– इन मंत्रोंमें ' संभूति और असंभूति " अर्थात् संघभाव और व्यक्तिभावके कर्तव्योंका उपदेश है। संघभाव और व्यक्तिभावके कर्तव्योंका विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों कर्तव्योंका समुच्चय ही इस उपनिषद्को अभीष्ट है।

मंत्र १५– में कहा है कि " सत्यके आवरणको दूर करो और सत्यका अवलोकन करो । " इसमें भी पुरुषार्थका ही उपदेश है ।

मंत्र १७– में जीवात्माका नाम " क्रतु " कहा है। यह पुरुषार्थका सूचक है ।

मंत्र १८– में " सब कर्मोंके जाननेवाले परमेश्वरकी प्रार्थना है कि वह दुष्टतारूप शत्रुके साथ हमारे द्वारा युद्ध करवाके हमको अच्छे मार्गपरसे ले जावे । " यह भी पुरुषार्थ ही है ।

इस प्रकार इस अध्यायका प्रत्येक मंत्र श्रेष्ठ पुरुषार्थका द्योतक है। तथापि कई कह रहे हैं कि, यह उपनिषद् कर्मयोगका खंडन करता है। क्या इससे और अधिक कोई आश्चर्य है ? वास्तवमें जैसा इसमें ' कर्म और ज्ञानका समुच्चय " स्पष्ट शब्दोंसे कहा है वैसाही श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है । यदि गीता संपूर्ण उपनिषदोंका सार है, तो संपूर्ण उपनिषदोंका भी यही अभिप्राय होना चाहिये और वैसा है भी । परंतु कई संप्रदायवाले अपने संप्रदायके अहंकारसे इस ज्ञानकर्म समुच्चयका विरोध करते है । परंतु वह मत इन मंत्रोंमें नहीं हैं । वह उनका निज मत है । इस ईशोपनिषद्का तो स्पष्ट भाव " ज्ञान–कर्म समुच्चय ' ही है ।

(११) ज्ञान और कर्मके समुच्चयका मुख्य हेतु ।

आत्माकी चार अवस्थायें हैं। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या । इन अवस्थाओंमें आत्माकी सब शक्ति प्रकट हो रही है । उक्त अवस्थाओंके नाम परमात्माके साथ वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा ये चार हैं । अर्थात् आत्मापरमात्माके साथ उक्त चारों अवस्थायें सूक्ष्म और बृहद्रूपसे संबंधित हैं। चारों अवस्थायें आत्माका वैभव व्यक्त करनेके लिये आवश्यक ही हैं। सनातन कालसे इन चारों अवस्थाओंमें आत्मा अपनी शक्तिका अनुभव देख रहा है ।

आत्मा	परमात्मा	अवस्था
तुर्या	शुद्धात्मा	नैष्कर्म अवस्था, (ज्ञान) निवृत्ति
सुषुप्ति	प्राज्ञ	
स्वप्न	तैजस	कर्म अवस्था (कर्म) प्रवृत्ति
जागृति	वैश्वानर	

इनमे दो अवस्थायें कर्मकी है और दो नैष्कर्म्यकी हैं। चारो आवश्यक होनेके कारण ज्ञान और कर्मका समुच्चय होनाही आवश्यक है। यह कोई नहीं कह सकता है कि इनमेसे किसी अवस्थाकी बिलकुल आवश्यकता ही नहीं। जो अवस्था नष्ट होगी, उस अवस्थामे व्यक्त होनेवाली आत्माकी शक्ति गुप्त ही रहेगी उस अवस्थाके विना वह प्रकट ही नहीं हो सकती। इसलिये जैसी आत्मा सनातन है वैसी ये चारो अवस्थायें भी सनातन ही हैं। परमात्मा भी तैजस वैश्वानर आदि द्वारा कर्म करता ही है, जो सृष्टिरूपके अनादि प्रवाहसे दिखाई दे रहा है। परिच्छिन्न जीवकी भी उक्त कारणसे ही चारो अवस्थायें हैं। " चतुष्पाद् आत्मा " इसी हेतुसे कहते हैं। उसके दो पाव छोडने नहीं हैं। इस कारण कर्म और ज्ञानका समुच्चय ही उन्नतिका साधक है।

कई यहा ऐसा प्रश्न करेंगे कि मुक्त अवस्थामे जागृति आदि अवस्थाएं कहा हैं? इस शंकाके उत्तरमे निवेदन है कि शरीरके होने और न होनेसे मुक्ति और अमुक्तिका कोई संबंध नहीं है। शरीरमे रहते हुए भी आत्मा मुक्तिका अनुभव कर सकता है और शरीरत्याग होनेपर भी आत्मा बंधनकी अवस्थामे रह सकता है। मुक्तिका हेतु ही और है। " आत्माकी निज शक्तिका अनुभव करना और अपने आपको बंधनोंसे अलिप्त देखना मुक्ति है। इसलिये यह शरीरमे कार्य करते हुए भी प्राप्त होती है। और इस कारण चारो अवस्थाओंका होना इसके लिये घातक नहीं है, प्रत्युत आत्माकी विकसित शक्तिका अनुभव करनेके लिये इसको जागृतिकी आवश्यकता होगी। यही मुख्य हेतु है कि ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीताआदिमे ज्ञान और कर्मका समुच्चय कहा है। और किसी एक ही का स्वीकार नहीं किया। आशा है कि पाठक इस समुच्चयका महत्त्व जानेंगे।

(१२) इस अध्यायमें आये हुए आत्मावाचक शब्दोंका विचार ।

पहिले मंत्रमें " ईश " शब्द है, वह " स्वामी, अधिपति, राजा, " का भाव बताता है। इससे आत्माका स्वामित्व अथवा राज्यशासन किसी दूसरे " अनीश " पर है, यह बात सिद्ध होती है और इसलिये इस जगत्में राज्य-शासनरूप कर्म यह आत्मा करता है यह सिद्ध है। जैसा सेवकका कर्म है वैसा स्वामीका भी कर्म है। स्वामी होनेपर कर्म छूटता नहीं है, परंतु बढता है।

द्वितीय मंत्रमें " नर " शब्द है। यह " नायक, नेता, चलानेवाला " इस आशयको बता रहा है। जिनका नेतृत्व इसके पास है, उनको चलानेका और योग्य दिशासे चलानेका कार्य करना इसको आवश्यक ही है। इसलिये यह शब्द भी इसके कर्मका बोधक है।

तीसरे मंत्रमें " जना " शब्द जननमात्र कर्म करनेवाले सामान्य लोगोंका बोधक है। इस अवस्थामें यह केवल प्रजनन करनेका कर्म करता है, संतानकी उत्पत्ति करना ही इस अवस्थामें इसका कर्म है।

चतुर्थ मंत्रमें " अर्शन् " शब्द है। गत्यर्थक ' ऋष् ' धातुसे यह शब्द बनता है, इसलिये इसका अर्थ गतिप्रधान ही है। गति भी एक कर्मही है। ज्ञानार्थक भी यह शब्द है। तात्पर्य– ज्ञान और कर्मका इस शब्दमें समुच्चय है।

षष्ठ और सप्तम मंत्रोंमें " आत्मा " शब्द है। " सातत्य गमन " किंवा सतत कर्म करनेके अर्थवाला ' अत् ' धातु इस शब्दमें है। इसलिये " सतत कर्म करनेवाला " ऐसा इसका स्वयं अपना ही अर्थ है। इसीलिये आत्माके छः लक्षणोंमें 'प्रयत्न' भी एक लक्षण है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, ज्ञान ये आत्माके छः लक्षण हैं और उसका ' अत् ' धातुके अर्थके साथ संबंध है।

अष्टम मंत्रमें "कवि, मनीषी, परिभू" आदि शब्द आत्माके विविध गुण बता रहे हैं। इसमें यह विचारणीय है कि ये ही विशेषण " अग्नि " देवताके भी हैं। देखिये—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम् ॥ (ऋ. १।३१।२)

" हे अग्ने ! तू (अगि-रस्-तम) अगोंमें मुख्य सत्त्वरूप (प्रथम कवि) पहिला कवि है और (देवाना व्रत) इंद्रियोंका व्रत, अथवा देवताओंका व्रत (परि भूषसि) सुभूषित करता है । "

शरीरमें आत्मा सब अगोंका मुख्य सत्त्व है और वह इंद्रियोंके व्यापार चलाती है तथा जगत्‌में परमात्मा मुख्य सत्त्वरूप है और सूर्यादिकोंको चलाता है ।

इस मंत्रमें ' अग्नि ' शब्द आत्मावाचक है और उसका " कवि " यह विशेषण है, जो वा० य० अ० ४० के आठवें मंत्रमें शुद्ध आत्माका विशेषण आया है । अग्निका अर्थ वेदमें आत्मा है इसका यह एक प्रमाण है । इस विषयके अधिक प्रमाण यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है । इससे पूर्व जो अग्निदेवताका विचार किया है, उसमें यह मंत्र भी देखने योग्य है । अस्तु ।

पद्रहवे मंत्रमें ' सत्य " शब्द आत्माका वाचक है । आत्मा " सत् " का यमन करती है अर्थात् " सत्‌का नियामक " आत्मा है । यह नियमनरूप कर्म बता रहा है ।

सोलहवे मंत्रमें उक्त अर्थकाही ' यम ' शब्द है । नियामक शासक, ये इसके अर्थ हैं । " ईश " शब्दके अर्थके साथ ही इसका संबंध है । " पूषा " शब्द पोषण करनेका भाव, " ऋषि " शब्द गति और ज्ञानका समुच्चय, 'सूर्य' शब्द प्रसव ऐश्वर्यवाचक ' सु ' धातुसे बननेके कारण सब जगत्‌की उत्पत्ति और सब जगत्‌का ऐश्वर्य बढानेवाली आत्मा है यह भाव बताता है । इसी मंत्रमें ' प्रजापति " शब्द है उसका भाव प्रजापालनरूप कर्म है । यही भाव प्रथम मंत्रके ' ईश ' शब्दने व्यक्त किया है । " पुरुष " शब्द पुरियोंमें रहनेका भाव बता रहा है । पूर्वोक्त चार अवस्थायें चार पुरियोंमें रहनेसेही इसके अनुभवमें आती हैं । इसलिये पुरुष शब्दसे पूर्वोक्त चार पुरियोंके साथ संबंध और वहांके कर्म व्यक्त होते हैं ।

मंत्र १७ में " क्रतु " शब्द कर्मका ही बोधक है । यह शब्द इसका स्वभाव धर्म बता रहा है । " शतक्रतु " शब्द जो इंद्रवाचक है वह भी आत्माका

वाचक है। सौ वर्ष जीवित रहकर यज्ञ करनेका भाव उस शब्दमें है। इसी लिये इस अध्यायके द्वितीय मंत्रमें "कर्म करते हुए यहां सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो" ऐसा उपदेश किया है। उसका "शतक्रतु" शब्दसे निकट संबंध है।

अठारहवें मंत्रमें "अग्नि" शब्द गतिवाचक है क्योंकि वह गत्यर्थक "अग्" धातुसे बनता है।

इस प्रकार आत्मावाचक सभी शब्द पुरुषार्थके वाचक है, यह यहां अत्यंत विचार करनेयोग्य बात है। इन शब्दोंसे जो जो आत्माके गुणधर्म व्यक्त हो रहे हैं, उनका विचार करनेसे आत्माके वास्तविक स्वरूपका पता लग जायेगा। और कर्म करना उसका स्वभाव है, यह बात भी इस विचारसे सिद्ध होगी। अब इन शब्दोंका परस्पर संबंध क्या है, इसका विचार करना है—

(१२) इस अध्यायके विशेष नामोंका परस्पर संबंध।

इस अध्यायमें जो विशेष नाम हैं, वे आत्माकी शक्तिका वर्णन कर रहे हैं। कई शब्द विशेषतया केवल जीवात्माका वर्णन करते हैं और कई विशेषतासे परमात्माका वर्णन कर रहे हैं। तथा कई ऐसे हैं कि जो दोनोंका वर्णन समानतासे कर रहे हैं। साधारण अवस्थासे उच्च अवस्थातक उनका कैसा क्रम है और उनसे हमें क्या बोध मिलता है, इसका यहां विचार करना है। प्रथमतः यहां इस बातको अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि, जो परमात्माके वाचक शब्द वैदिक वाङ्मयमें हैं, वे परिच्छिन्न अर्थात् मर्यादित भावके साथ जीवात्माके भी वाचक हैं, और जो जीवात्माके वाचक शब्द हैं वे अमर्यादित अर्थके साथ परमात्माके भी वाचक हैं। प्रायः सब शब्द दोनोंके लिये समानतासे प्रयुक्त होते है, क्योंकि दोनोंके गुणधर्म बहुत अंशमें समानही है, और दोनोंका पितापुत्र संबंध सुप्रसिद्धही है। "अज, इंद्र, आत्मा" आदि शब्दोंके साथ सब पाठक परिचितही हैं, और वे जानते हैं कि, ये शब्द दोनोंके लिये प्रयुक्त होते हैं। इसी दृष्टिसे इन शब्दोंका यहां विचार करना है और उसके द्वारा जीवात्माकी उन्नतिका मार्ग देखना है।

परमात्मा सदा पूर्णज्ञानी है, परन्तु जीवात्मा किसी कारण *मिथ्याज्ञान* अथवा अज्ञानसे युक्त होती है, यह अज्ञानरूप जो *अवस्था* जीवात्माको किसी कारणविशेषसे *प्राप्त होती है वह* कदापि परमात्माको नहीं होती। इस अवस्थाके बोधक जितने शब्द जीवात्माके लिये प्रयुक्त होते हैं, वे कभी परमात्माके लिये प्रयुक्त नहीं होते। यह विशेषता लक्ष्यमें रखनी चाहिये। इन शब्दोंमेंसे एक " आत्म-हन् " शब्द तृतीय मंत्रमें प्रयुक्त हुआ है। आत्माका घात जो करता है वह आत्महन् होता है। जिसका जन्म और मरण नहीं है ऐसे अज और अमर " आत्माका घात " कैसे होता है ? अपनी शक्तिका पता न होनेसेही *'आत्मघात"* होता है। *इस अधःपातका कारण अज्ञान है।* यह "आत्म-हन्" शब्द उन जीवात्माओंका बोध कराता है कि, जो स्वकीय शक्तिसे अनभिज्ञ होनेके कारण अपने आपको निर्बल समझते हुए हीन अवस्थामें गिरते जाते हैं। *ये आत्मघातकी लोग* अपनी शारीरिक शक्तिमेंही मस्त रहते है, नहीं नहीं, अपनी शक्तिके घमंडसे उन्मत्त होकर बडेही अनर्थ करनेके लिये सिद्ध होते है, और प्रत्येक प्रयत्नसे गिरतेही जाते हैं।

" असु " प्राणको कहते हैं। उन प्राणोंकी जो शक्ति है वह ' असुर्य ' नामसे प्रसिद्ध है। यह वस्तुतः आत्माकी शक्ति है, परन्तु यह स्थूल शरीरमें कार्य करती है। इस शक्तिमेंही केवल मस्त रहनेके अथवा इस शक्तिसे स्वार्थी भाग बढानेके कारण इनकी *अवनति* होती है। इस शक्तिको नम्र करके जब ये इस अपनी शक्तिका सबकी भलाईके लिये यज्ञ करेंगे, तभी इनका दोष दूर हो जायेगा और ये " आत्मघातकी " नहीं कहलायेंगी।

अपनी शारीरिक शक्तिको पूर्वोक्त प्रकारके यज्ञमें जो समर्पण करता है, उसकी योग्यता उच्च होती है; वह इस अवस्थामें " नर " कहलाता है। इस अवस्थामें आनेपर यह भोगको तिलाञ्जलि देकर, अपनेही सुखमें कभी " नहीं रमता " इसीलिये न रमनेके कारण ' **नर** ' नाम उसके विषयमें सार्थ होता है। स्वार्थी फलभोगकी इच्छासे किये हुए सकाम कर्म जो आत्म-

घातके मार्गमे उसको ले जाते थे, वे अब नही रहे। फलभोगमे न रमनेके कारण वह निष्काम कर्म करता है और उसी कारण कर्मके बंधनसे दूर होता है, यह भाव द्वितीय मत्रमे पाठक देख सकते है। जैसा निष्काम कर्म करनेवाला सत्पुरुष ' नर ' कहलाता है, उसी प्रकार पूर्ण आत्मकाम परमात्मा भी जगत्मे ' नर ' है, क्योकि उसका सब कर्म पूर्ण निष्काम भावनासेही होता रहता है।

इस प्रकार जो निष्काम कर्म करता है, वह संपूर्ण सत्कर्म करता हुआ भी कुछ भी न करनेवालेके समान निर्लेप रहता है, अत एव कहते हैं कि वह " अपाप-विद्ध " अर्थात् निष्पाप है। पापका कलंक उसके नही लग सकता, क्योकि पापके मूल कारणकोही उसने दूर किया है। जो पापके कलकसे दूर है वह ' शुद्ध ' है इसमे क्या शंका हो सकती है ? जो शुद्ध और पवित्र होता है वही " शुक्र " अर्थात् वीर्यवान् किंवा बलवान् होता है। अपवित्र, दुष्ट और पापी जो होता है वह कदापि आत्मिक बलसे युक्त नही हो सकता। सदैव निर्दोषताकाही आत्मिक बलके साथ संबंध है।

भोगोंका उपभोग करनेके लिये शरीर है, जिसने फलभोगकी इच्छाका त्याग किया, उसका शरीरकी आवश्यकताही नही रहती। वह इसलिये 'अ-काय' कायरहित किंवा विदेह अवस्थामें रहता है, तथा शरीरके साथ होनेवाले व्रणादि दोष उसको कष्ट नही देते। स्नायुके बलसे वह बलिष्ठ नही समझा जाता परंतु उसका बल अलौकिक हुआ करता है। वह कर्मके वशमे रहता हुआ देहधारण नहीं करता, प्रत्युत आवश्यकता होनेपर स्वेच्छासे देह धारण करके जनताको उठानेका महान् सत्कार्य करता है।

वह जानता है कि अपनी ' आत्मा " मनसे भी वेगवान् है। " मनसः जवीयः " मनके वेगसे अधिक वेगवान् अपने आत्माको जो मानता है वह अपने मनका स्वामी ' मनीषी "होता है। वही अपनी मनको स्वाधीन रख सकता है क्योकि वह जानता है कि मै मनका स्वामी हू और मन मेरा सेवक है।

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रिया और सब शरीर है। इस हेतुसे जब मन स्वाधीन हो जाता है तब सब इंद्रिया और शरीर स्वाधीन हो जाता है और इ

सबपर वह अपनी शक्ति चलाता हूं, मानो इस समय सबसे ऊपर उसके आत्माकी शक्ति होती है। वह इस अवस्थामें अपनी आत्माको ' परि-भूः ' अर्थात् सब शारीरिक शक्तियोंके ऊपर प्रभाव चलानेवाला अनुभव करता है।

अपनी आत्माको वह अपने शरीरका " ईश " मानता और अनुभव करता है। मैं इस शरीरका राजा हूं, मैं इस शरीरमें इंद्र हूं और मेरी शक्तिही इस शरीरमें जाकर इंद्रियोंसे कार्य कर रही है। इस शरीरमें " आत्मा " होनेसे स्वकीय शक्तिके साथ रह सकता हूं, इसलिये मैं " स्वय-भू " हूं। मैं अजन्मा हूं, मेरी उत्पत्ति नहीं हुई, मैं स्वयंही हूं, इसीलिये " स्वयं-भू " मुझे ज्ञानी कहते हैं। इस रीतिका विचार करके इस अवस्थामें वह अपने आपको स्वकीय शक्तिसे अवस्थित अनुभव करता है और अपनी आत्मशक्तिसे यह शरीर चल रहा है ऐसा देखता है। आत्मा अपनी शक्तिसेही रहता है, परंतु शरीरके अस्तित्वके लिये आत्माका रस चाहिये; आत्माकी शक्ति चाहिये। इस रीतिके विचारसे वह अपनी स्वतंत्रताका अनुभव प्राप्त करता है और अपने आधारपर शरीरका अस्तित्व है अतएव यह शरीर परतन्त्र है ऐसा देखता है।

मैं ' एक ' हू और मेरे एकके आधारसे शरीरकी अनेक शक्तियां हैं। उन अनेक शक्तियोंमें अपने ' एकत्व ' का यह अनुभव करने लगता है। अनेक भिन्न पदार्थोंमें एकत्वका अनुभव करनेका अभ्यास इस रीतिसे उसको होता है।

मैं कभी कंपायमान नहीं होता (अन्-एजत्), क्योंकि शरीर बननेके " पूर्व " मैं था, और शरीर नष्ट हो जानेपर भी मैं रहूंगा, और बीचकी अवस्थामें मैं शरीरको (अर्षत्) गति दे रहा हूं। शरीरका *अस्तित्व* बीचकी अवस्थामें है, परंतु मेरा अस्तित्व शरीरसे पूर्व और उत्तर कालमें भी एक जैसाही है। इस ज्ञानसे वह निर्भय होता है और अपने गौरवका वह अनुभव करता है। मुझे कोई पाशवी शक्ति नहीं दबा सकती क्योंकि पाशवी शक्तिसे कई गुणा बलवत्तर जो आत्मशक्ति है वही मैं हूं, इस प्रकारके मननसे वह आत्मिक बलसे परिपूर्ण होता है।

यह तीनो कालोंमें उक्त प्रकार अपने आपको " सत्य " स्वरूप समझता है। किसी कालमे मैं नही था ऐसा कोई काल नहीं है, परतु शरीर एक कालमे आता है और दूसरे कालमे चला जाता है। उसके आने न आनेसे अपनी आत्मशक्तिमें कोई न्यूनाधिक्ता नही होती। यह अतींद्रियताका अनुभव इस समय वह करता है इसलिये उसको इस समय " कवि " कहते हैं। जो साधारण लोग नही देख सकते उस बातको अपनी असाधारण दृष्टिसे कवि लोग देखते हैं। वह असाधारण दृष्टि उसको इस समय होती है। इस दृष्टिके कारणही वह अपने अदर विलक्षण बलका अनुभव करने लगता है।

यह देखता है कि शरीर धारण करनेके पूर्व उसको माताके उदरमें रहना पडा है। " मातरि-श्वा " मैं ही हू ऐसा वह इस विचारसे समझता है। स्वेच्छासे देह धारण करनेके समय अथवा कर्मके प्रवाहमें पडनेके कारण द्वितीय जन्म धारण करनेके समय माताके उदरमें जाना आवश्यक है। तथा एक शरीर छोडकर दूसरा लेनेके पूर्व जो गर्भस्थानीय अवस्था है उसमें भी, पूर्व शरीर-द्वारा मेरी प्रेरणासे किये हुए कर्म, सस्काररूपसे रहते हैं। अर्थात् किया हुआ कर्म नष्ट नही होता। कर्म शरीरोंके द्वारा किया जाता है, परतु सस्कार-रूपसे जन्मजन्मातरतक वह रहता है। इसलिये आवश्यक है कि प्रशस्ततम कर्म ही किये जाय। और कभी ऐसे कर्म न हों कि जो गिरानेवाले हों। मैं आत्मा ही इस कर्मभूमिमें-देहमें-कर्मकर्ता हू। मैं ही इस यज्ञशालमें-देहमें यज्ञकर्ता हू। मेरी प्रेरणासे ही यहाके यज्ञ हो रहे हैं। इसीलिये मुझे "क्रतु" कहते है। इस देहमें रहता हुआ मैं सौ वर्ष यज्ञ करता हू इसलिये ही मैं 'शत क्रतु ' हू। इस शतसावत्सरिक यज्ञका घात बीचमें ही विघ्नोंके द्वारा होना उचित नहीं। कुविचाररूपी राक्षस सहस्रोंकी सख्यामें हैं जोकि इस यज्ञका विध्वस कर रहे हैं। परतु मैं इसका अवश्य निर्विघ्नतासे समाप्त करूगा।

मै " पूषा " हू, क्योंकि इस शरीरकी पुष्टि मेरी शक्तिसे हो रही है। शरीरकी पुष्टि मेरे बिना नही हो सकती। मैं ही इस शरीरका और मन आदि सपूर्ण इद्रियोंका नियमन करनेवाला होनेसे यहा " यम " हू। यम और नियमोंके पालन करने द्वारा सबका यथायोग्य रीतिसे नियमन अवश्यही करूगा।

संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यादिका यथायोग्य रीतिसे पालन करता हुआ सु-प्रजा उत्पन्न करके उस सुप्रजाका उत्तम प्रकारसे पालन करूंगा । क्योंकि मेरे बिना मेरे संतानोंका परिपालन कौन करेगा । "प्रजा-पति" का धर्म पालन करना मेरे लिये आवश्यक ही है । मैं "प्राजापत्य" ही हूं । इसलिये सुप्रजा निर्माण करके उनका योग्य पालन करना मेरा योग्य और श्रेष्ठ कर्तव्य है । "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।" (ऋ० १।११५।१) स्थावर जंगमका आत्मा ही सूर्य है । यहां शरीरमें शरीरादि स्थावर और मन आदि जंगम पदार्थोंका मैं आत्मा हूं इसलिये यहां मैं ही "सूर्य" हूं । व मेरे सप्तरश्मी सात किरण सप्त इंद्रियोंमें प्रकाशमान रहे हैं, ये ही मेरे (सप्ताश्व) सात घोडे हैं । येही "सप्त ऋषि" हैं और ऋषियोंका "ऋषि" आत्मारूपसे मैं यहां विराजमान् हूं ।

यहां मेरी उपस्थिति होनेसे सब शरीर पवित्र रहता है और मेरे जानेसे यहां सब अमंगल हो जाता है, इसलिये यहांका सब कल्याण करनेवाला मैं ही "कल्याण-तम" हूं ।

इस देहरूपी पुरीका "ईश्वर" मैं हूं । 'पुरीश' मेरा नाम है । पुरीमें बसनेके कारण मुझे "पुरुष" कहते हैं । इन चार पुरियोंमें रहता हुआ मैं जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या इन चार अवस्थाओंका अनुभव करता हूं । येही ओंकारके चार पाद क्रमशः अ, उ, म और अर्धमात्रा नामसे सुप्रसिद्ध हैं । इस प्रकार "ओंकार" मेरे चारों अनुभवोंका वर्णन कर रहा है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये इन चार पुरियोंके नाम है और उनके चार संकेत ओंकारमें हैं । चारों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला मैं किसी अवस्थाके होने न होनेसे नष्ट नहीं होता, इसीलिये मैं अपने आपको "अ-हं" अर्थात् अ-हेय समझता हूं । यह मेरी सनातन सत्ता है ।

पूर्वोक्त सप्तऋषि जिसमें हवन कर रहे हैं वह आत्माग्नि मैं ही हूं । यही आत्माको "अग्नि" है जो इस शतसांवत्सरिक "पुरुषयज्ञ" का अधिष्ठाता "देव" है । यही सब कर्मोंको जानता हुआ, इस शरीररूपी रथमें बैठकर अपने पूर्वोक्त वैभवका अनुभव करता हुआ प्रगति करता है । अस्तु ।

इस उपनिषद्में जो आत्माका वाचक शब्द है उनका जीवात्माके विषयमे जो अर्थ लेना आवश्यक है और जिस अर्थका चिंतन करता हुआ, अथवा परमात्माके जिन गुणोका चिंतन करता हुआ जीवात्मा, अपने अदर उन सद्गुणोका विकास करके उन्नत हो सकता है, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। इन शब्दोका परमेश्वरविषयक वर्णन प्रसिद्ध है और वह आगे आ जायगा। इसलिये उसका यहा पुन वर्णन करनेकी आवश्यकता नही है।

(१४) आत्मज्ञानकी आवश्यकता ।

जो ज्ञान प्रगतिके लिये अत्यत आवश्यक है वह " आत्म-ज्ञान " ही है। साधारणत बाह्य सृष्टिके ज्ञानसे लोग अपनी उन्नति करनेका यत्न करते है, और प्राय ऐसे लोग आत्माकी शक्तिके विषयमे अनभिज्ञ ही रहते है। इनके प्रयत्नसे ही जगत्‌में अशाति फैलती है। येही आसुरी शक्तिसे काम करनेवाले लोग है।

जो दैवी शक्तिसे युक्त होते है वे आत्माकी शक्तिका ज्ञान सपादन करते है। और साथ साथ जगत्‌के पदार्थोंका भी विज्ञान प्राप्त करते है। और दोनोके सयोगसे ऐसी उन्नति करते हैं कि जो सबकी भलाईके लिये कारणीभूत होती है।

शरीरका सचालक आत्मा है और जगत्‌का प्रवर्तक परमात्मा है। दोनोके गुणधर्मोका ज्ञान प्राप्त करना आत्मविद्याके अध्ययनसे होता है। पहिले कहाही है कि बहुत अशमें दोनोके गुणधर्म एक जैसे ही हैं। एकका प्रमाण और कार्यक्षेत्र छोटा और दूसरेका प्रमाण और कार्यक्षेत्र अपरिमित है। इन क्षेत्रोंके परिमित और अपरिमितताको पृथक् किया जायगा, तो बहुतसे गुणधर्म दोनोंके एक जैसे दिखाई देंगे। इसीलिये दोनोके नाम एक जैसे ही हैं।

इस आत्माके गुणधर्म जाननेसे, अपनी शक्ति क्या है और मैं क्या कर सकता हू इसका ज्ञान होता है, और यही ज्ञान उन्नतिका हेतु है। जो जगत्‌के गुणधर्मोंको जानता है, परतु अपने गुणधर्मोंको नही जानता, उसकी अवनतिकी कोई सीमा नही है। इसीलिये आत्माके ज्ञानकी अत्यत आवश्यकता है।

प्रत्येकके आंखके सामने जगत् है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य जगत्का कुछ न कुछ ज्ञान रखता ही है। परन्तु आत्मा वस्तुतः जगत्से भी पास है, और जगत्से भी अधिक प्रत्यक्ष है; परन्तु स्थूल इंद्रियोंसे उसका दर्शन न होनेके कारण उसके विषयक ज्ञान प्राप्त करनेमें बहुत थोडे लोग प्रयत्न करते हैं। इसीलिये वेदमें इसीका मुख्यतः वर्णन विविध रीतियों और अलंकारोंके द्वारा किया हुआ है। आप किसी देवताके मंत्र लीजिये, उसमें अंशतः अथवा पूर्णतः इसी आत्माका वर्णन दिखाई देगा। परन्तु वैदिक रीतिसेही उसको देखना चाहिये। अन्य बातोंका वर्णन गौण रीतिसे है, और प्रत्येक प्रकरणमें इसीका वर्णन मुख्य है, इसका हेतु यही है।

आत्मा और जगत् इन दोनोंके ज्ञानका समुच्चय उन्नतिका साधक है, यह बतानेके लिये ही इस अध्यायका "विद्या अविद्या" प्रकरण है। इसलिये अब इसी विषयका विचार करेंगे—

(१५) विद्या और अविद्या

"विद्या और अविद्या" से किसका बोध लेना है इसका अब विचार करना है। प्रायः भाष्यकारोंमें इन शब्दोंके अर्थके विषयमें मतकी एकता नहीं है। देखिये—

"विद्या" = (श्री. शंकराचार्य) देवता-ज्ञान। (श्री रामानुजशिष्य नारायण-प्रकाशिका) ब्रह्मोपासना, परमात्मोपासना। (श्री माध्व० जयतीर्थ विवरण) ईश्वरका यथार्थ ज्ञान। (श्री स्वा दयानंद सरस्वती) शब्दार्थसंबंध-विज्ञानमात्र अवैदिक आचरण; आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनित यथार्थ-दर्शन।

"अ-विद्या" (श्री शं०) कर्म। (श्री रा. ना. प्र.) कर्म। (श्री मा. ज. वि.) अयथार्थ ज्ञानकी निंदा। (श्री स्वा द) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या, इति ज्ञानादि गुणरहित वस्तु कार्यकारणात्मक जड परमेश्वरसे भिन्न।

ये अर्थ इस समयतक किये गये हैं। इनमें जो जगत्पूज्य आचार्य हैं उनके अर्थोंपर हस्ताक्षेप करनेका हमें अधिकारही नहीं है। तथापि उक्त अर्थोंमेंसे

कई अर्थोंकी स्वीकृति करनेपर मंत्रोंके अर्थोंकी संगति लगती है वा नहीं, इसका विचार यहां करना चाहिये। इस अध्यायमें विद्या अविद्या प्रकरणमें तीन मंत्र हैं। उनका शब्दार्थ निम्न प्रकार है—

" (१) जो केवल अविद्याकी उपासना करते हैं वे अंधेरेमें जाते हैं, और जो केवल विद्यामें रमते हैं वे उससे भी घोर अंधेरेमें जाते हैं।

(२) विद्या और अविद्याका फल भिन्न है ऐसा ज्ञानियोंसे हम सुनते आये हैं।

(३) जो विद्या और अविद्याका समन्वय करते हैं, वे अविद्यासे मृत्युको दूर करके विद्यासे अमृत प्राप्त करते हैं॥ "

श्री० शंकराचार्यजी विद्या और अविद्याका अर्थ क्रमशः देवताज्ञान और कर्म करते हैं। परंतु ये अर्थ तीसरे मंत्रके भावके साथ संगत नहीं होते। कर्मसे स्वर्ग प्राप्त होकर जन्ममृत्यु होता है। परंतु तीसरे मंत्रमें " अविद्यासे मृत्युको दूर करनेका वर्णन " है, इसलिये कर्मसे मृत्युको दूर करनेकी संभावना न होनेके कारण यह अर्थ नहीं। तथा देवताज्ञानसे भी अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता नहीं है। इसलिये ये अर्थ ठीक नहीं दीखते। " अमृत " शब्दका अर्थ बदलकर " देवतात्मभाव " ऐसा अर्थ इन्होंने किया है। यह भी ठीक नहीं। विद्या अविद्याके अर्थ उक्त प्रकार कृत्रिम माननेसे अमृत शब्दका अर्थ भी बदलना पड़ा है। विद्या शब्दके व्यापक अर्थका संकोच करके " देवताज्ञान " ऐसा संकुचित अर्थ करने, तथा " अ-विद्या " शब्दका कृत्रिम बनावटी अर्थ " कर्म " ऐसा करनेके कारणही " अमृत " शब्दके अर्थका संकोच करना पड़ा है। परंतु ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

इस आपत्तिको हटानेके लिये कईयोंने यह उपाय लिखा है कि " अविद्या " शब्दका अर्थ " सकाम कर्म " करना। परंतु यह अर्थ तीसरे मंत्रमें कष्ट देता

है क्योंकि यहां " निष्काम कर्म " ऐसा अर्थ उचित दीखता है। इसलिये ये अर्थ ठीक नहीं है।

श्री मध्वाचार्यजीका अर्थ " अयथार्थ ज्ञानकी निंदा " यह विलक्षणही है। यह अविद्या शब्दसे कैसा निकलता है यह भी समझना कठिन है। अन्य अर्थोका विचार करनेके पूर्व हम अंतर्गत प्रमाणोंसे इन शब्दोंका अर्थ करनेका यत्न करते है—

इस अध्यायके प्रथम मन्त्रके प्रथम पादके साथ " विद्या अविद्या " का संबंध है, ऐसा पहिले कहाही है। वह प्रथम चरण यह है।

" ईशा वास्यं इदं सर्वं । "

" ईश्वर इस संपूर्ण विश्वमें व्याप्त है। " यह इसका भाव है। " ईश " शब्दकी सापेक्षतासे यह विश्व " अनीश " है ऐसा स्वयंसिद्ध होता है। अनीशके ऊपरही ईशका स्वामित्व है। जडके ऊपरही चेतनका अधिकार है। ईश शब्दके वाचक अन्य शब्द इस अध्यायमें " आत्मा, ब्रह्म, सत्य, प्रजापति (प्राजापत्य), यम, पुरुष, एक " आदि हैं। इनको क्रमशः निम्न कोष्टकमें रखा है—

ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
ब्रह्म	जगत्
सत्य	असत्य
यम	याम्य
नियंता	नियम्य
पुरुष	प्रकृति
एक	अनेक
प्रजापति	प्रजा
स्रष्टा	सृष्टि
(ईशा)...वास्यं...	(इदं सर्वं)

इससे ' ईश और इदं ' शब्दोंसे किसका बोध लेना है, इस बातका ज्ञान हो सकता है। दोही पदार्थ हैं, एक पुरुष और दूसरी प्रकृति। दोनोंका ज्ञान होना आवश्यक है। केवल किसी एकका ज्ञान होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता। इसलिये उक्त शब्दोंके साथ विद्या शब्दका प्रयोग करेंगे—

ईश -विद्या	अ-नीश-विद्या
आत्म -विद्या	अ-नात्म-विद्या
ब्रह्म -विद्या	अ-ब्रह्म -विद्या
०० -विद्या	अ-०० -विद्या

दोनो स्थानोंसे समान शब्दोंको हटानेसे " विद्या, अविद्या " ये दोही शब्द अवशिष्ट रहते हैं। पूर्वोक्त कोष्टकोंके अनुसंधानसे इन शब्दोंका अर्थ निम्नलिखित प्रकार होता है—

(१) विद्या = आत्माका ज्ञान।
(२) अविद्या = जगत्का विज्ञान।

ये अर्थ प्रथम मंत्रके अनुसंधानसे होते हैं। सब बाह्य प्रमाणोंकी अपेक्षा अंतर्गत प्रमाण अधिक बलवत्तर होता है, इसलिये ये अर्थ अंतर्गत प्रमाणोंसे प्राप्त होनेके कारण अधिक प्रामाणिक हैं। इस विद्या अविद्याके विषयमें श्रुति भी क्या कह रही है देखिये—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥ (अथर्व. ११।८।२३)

" विद्या, अविद्या तथा और जो कुछ उपदेश करने योग्य है, वह ऋक्, यजुः, साम और (ब्रह्म) ज्ञानरूपसे शरीरमें प्रविष्ट हुआ है। "

इस मंत्रमें कहा ही है कि (विद्या) आत्मज्ञान जैसा उपदेश करनेयोग्य है, उसी प्रकार (अ-विद्या) सृष्टिविज्ञान भी पढनेयोग्य है, तथा इससे भी भिन्न और (अन्यत् उपदेश्य) अन्य ज्ञान उपदेश करनेयोग्य है। पाठक

*

पूछेंगे कि वह तीसरा क्या है ? विद्या अविद्याके " सबंधका ज्ञान " जो है वह तीसरा उपदेश्य ज्ञान है।

(१) एक आत्माका ज्ञान, (२) दूसरा जगत्का विज्ञान और (३) तीसरा आत्मा और जगत्के परस्पर संबंधका परिज्ञान है। केवल आत्मज्ञान अथवा केवल जगद्विज्ञान वैसा लाभकारी नहीं हो सकता, जैसा दोनोंका इकट्ठा ज्ञान हो सकता है। अर्थात् दोनोंके संबंधके परिज्ञानका भी बडा भारी महत्व है। यही बात इस अध्यायमें कही है। देखिये वेही पूर्वोक्त तीनो मंत्र—

"(१) केवल प्रकृतिविद्याकी जो भक्ति करते हैं वे गिरते ही हैं, परंतु जो केवल आत्मविद्यामें ही रमते हैं वे भी उससे अधिक अवनत होते हैं।

(२) आत्मज्ञानका और जगद्विज्ञानका फल भिन्न भिन्न है ऐसा हम ज्ञानियोंके उपदेशोंमें सुनते आये हैं।

(३) जो आत्मज्ञान और जगद्विज्ञानको साथ साथ लाभकारी समझते हैं, वे जगद्विज्ञानसे दुःखोंको दूर करके, आत्मज्ञानसे अमृतको प्राप्त करते हैं। "

जगद्विद्याके ज्ञानसे ऐहिक योगक्षेम ठीक चलता है और आत्मज्ञानसे आत्मिक शक्ति और शांति प्राप्त होती है। यदि केवल जगत्के विज्ञानमें ही लोग मस्त रहेंगे और आत्मज्ञानकी ओर जायेंगे ही नहीं, तो इस अवस्थामें वे जगत्के भोग बहुत बढायेंगे, यह बात ठीक है; परंतु उनके प्रयत्नसे आत्मिक शांति न होनेके कारण लोग इनकी संगतिसे अधिकाधिक दुःखोंमें ही गिरते जायगे। तथा दूसरे पक्षमें जो लोग केवल आत्मज्ञानमें ही रमेंगे और जगद्विज्ञानका विचार बिलकुल छोड देंगे, तो वे भी अवनत ही होंगे, क्योंकि ऐहिक तथा स्थूलदेहविषयक स्वस्थता उनको बिना सृष्टिविद्याके प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार ये दोनों केवल एक एक विद्याके उपासक होनेके कारण अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

इसलिये दोनों विद्याओंका समन्वय करनेकी सूचना इस अध्यायमें कही है। दोनों विद्याओंको यथायोग्य प्रमाणमें जाननेसे भौतिक विद्यासे ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं और आत्मिक-विद्यासे अभौतिक आनंद मिलता है। इस प्रकार मनुष्य सीधा उन्नतिके मार्गपर चलनेका अधिकारी होता है।

यह ४० वा अध्याय तत्वज्ञानका है, इसलिये इसमें जो यह सूचना दी गई है वह अत्यंत उपयोगी है। शिक्षा-प्रणालीका विचार करनेवाले इससे अपनी शिक्षा प्रणाली ठीक कर सकते हैं। दूसरे लोक भी दोनों विद्याओंको जाननेका यत्न करके अपना अभ्युदय और निश्रेयस्‌का मार्ग सुगम कर सकते हैं। आधुनिक मतमतांतरकें झगडोसे यदि कुछ हानि हो गई है, तो यही है कि इस सम विकासके तत्त्वकी ओर किसीने ध्यान नहीं दिया है। और प्रत्येक मताभिमानी अपना अपना ही राग अलाप रहा है। परंतु इन तीन मंत्रोंका पुनः पुनः विचार करनेसे सब शंकाओंकी निवृत्ति होकर योग्य मार्ग दिखाई देता है। आशा है कि पाठक इन मंत्रोका और भी अधिक विचार करेंगे।

(१७) संभूति और असंभूति।

पूर्वोक्त विद्या-अविद्याके प्रकरणके समानही यह संभूति और असंभूतिका प्रकरण अत्यंत विचार करनेयोग्य है। इन शब्दोके अर्थ जो इस समयतक भाष्यकारोंने किये हैं वे नीचे दिये हैं—

" *संभूति* " (*श्री. शं०*) *सृष्टि, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ आदि।* (*श्री० रा० ना० प्र०* , समाधि। (*श्री० मा०*) श्री हरीका जगत्कर्तृत्व जो मानते हैं। (*श्री० स्वा० द०*) महदादि रूपसे परिणत सृष्टि।

" अ-संभूति "-(श्री० शं०) मूल प्रकृति। (श्री० रा० ना० प्र०) समाधिके अंगभूत निषिद्ध कर्मसे निवृत्ति। (श्री० मा०) हरीका जगत्का संहार करनेका धर्म जो मानते हैं। (श्री० स्वा० द०) अनादि अनुत्पन्न मूलप्रकृतिरूप सत्वरजतमोगुणमय जड वस्तु।

इन अर्थोंका विचार करनेके पूर्व एक बात यहां कहना आवश्यक है, वह यह है कि श्री० शंकराचार्यजी संभूति असंभूतिके अर्थ जो पहिले मंत्रमें मानते हैं वेही अर्थ तीसरे मंत्रमें मानते नहीं, परन्तु उनके बिलकुल उलटे अर्थ मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि—

संभूतिं च विनाशं चेत्यत्राऽवर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः।
प्रकृतिलयफलश्रुत्यानुरोधात्॥ (ईश० उ० शा भाष्य १४)

" संभूतिं च विनाशं च " इस १४ वे मंत्रमें संभूति और विनाशके पूर्व अकारका लोप हुआ है ऐसा समझना उचित है !! अर्थात् ये संभूति शब्दके स्थानपर "असंभूति" की और असंभूतिके स्थानपर "संभूति "की कल्पना करनेको कहते हैं !! इस कथनसेही यह सिद्ध होता है कि इनके संभूति असंभूतिके अर्थ तीनों मंत्रोंमें ठीक प्रकार नहीं लग सकते। जो अर्थ अपने प्रकरणमेंही सर्वत्र उपयोगी नहीं होते वे अर्थ किस प्रकार माने जा सकते हैं ? और जिन अर्थोंके लिये ' अ ' कारके लोपकी कल्पना करनी पडती है वे ठीक भी किस रीतिसे हो सकते हैं ? तथा अकारलोपकी कल्पना किस व्याकरणके किस नियमसे मानी जा सकती है ? यह व्याकरणविरुद्ध कल्पना है ऐसा श्री० जयतीर्थ जी ही कहते हैं—

अकारलोपेन संभूतिरव्याकृतमित्यपूर्वं व्याकरणकौशलम्॥
(श्री जयतीर्थ विवरण १४)

"अकार लोपकी कल्पना करके संभूतिकाही अर्थ अव्याकृत किंवा असंभूति करना यह अपूर्व व्याकरणका कौशल्य है !" यद्यपि यह भाषा उपहासात्मक है, और इसलिये हमें उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये, तथापि मूल आशय असत्य नहीं है। तात्पर्य अकारलोप मानकर अर्थ करना श्रुतिप्रामाण्यकी दृष्टिसे भी उचित नहीं है। श्रुतिको प्रमाण मानते हुए उसके शब्दोंके पूर्व अकारकी कल्पना करनेसे शब्दोंके विपरीतही अर्थ हो सकते हैं। इसलिये ऐसी कल्पना करनी न पडेगी ऐसेही अर्थ हमको ढूंढने चाहिये। इनका विचार करनेके पूर्व संभूति असंभूतिके तीनों मंत्रोंका शब्दार्थ यहां देखिये—

"(१) जो असंभूतिकी उपासना करते हैं वे अंधेरेमें जाते हैं परंतु उससे भी गहरे अंधेरेमें वे जाते हैं जो कि संभूतिमेंही रमते हैं।

(२) संभूति और असंभूतिका फल भिन्न है ऐसा हम ज्ञानियोंके उपदेशमें सुनते आये हैं।

(३) संभूति और असंभूतिको एक साथ उपयोगी जो समझते हैं, वे असंभूतिके द्वारा मृत्युको दूर करके| संभूतिके द्वारा अमृतको प्राप्त करते हैं।" (वा. य. ४० म. ९-११; ईश. उ. १२-१४)

अब पाठकही विचार करें कि पूर्वोक्त अर्थोंमेंसे कौनसे अर्थ किस दृष्टिसे उपयोगी हो सकते है। हमारी दृष्टिसे इन शब्दोंका संबंध प्रथम मंत्रके द्वितीय पादसे है और उसके विचार करनेसे इन शब्दोंका अर्थ स्वयही स्पष्ट होना संभवनीय है और उस अवस्थामें अकारलोपकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं। देखिये प्रथम मंत्रका द्वितीय पाद--

यत्किं च जगत्यां जगत् ॥

यह द्वितीय पाद है। प्रथम पादमें कहा है कि "ईश्वर व्यापता है इस सब विश्वमें।" (ईशा वास्यं इदं सर्वं) इसके 'सर्वं' पदकी व्याख्या इस द्वितीय पादमें की है। जो कुछ जगतीमें जगत् है उस सबमें ईश्वर व्यापक है। यह इन दोनों पादोंका अर्थ है। हमारे इस प्रकृत प्रकरणका अर्थ निश्चय करनेके लिये "जगत्यां जगत्" इन दो शब्दोंका आशय देखना आवश्यक है। "जगत्" के समुदायका नाम है "जगती"। इसलिये "जगत्यां जगत्" शब्दमें 'समुदाय और व्यक्ति' की कल्पना है। 'समष्टि व्यष्टि-रूपसे जो है उस सब विश्वमें ईश्वर व्यापता है' यह आशय उक्त मंत्रार्धका था। अब और इसका अर्थ करनेके लिये निम्न कोष्टक देखिये—

जगत्यां – × –	जगत्
जगती	जगत्
सृष्टि	एक पदार्थ

समूह	व्यक्ति
समष्टि	व्यष्टि
संघ, जाति	एक व्यक्ति
मानवजाति	एक मनुष्य
संभूति	अ-संभूति

" जगत्यां जगत् " इन पदोंसे जो गूढ भाव व्यक्त होता है वह उक्त कोष्टकमें दिया है। इनके कोशोंमें दिये हुए अर्थ नीचे देता हूं—

(१) " संभू " = मिलना, एक होना, संबंधित होना।
(२) संभव—मेल, मिलाफ, एकता, सहकार, सहयोग।
(३) संभूत—मिला हुआ।
(४) संभूति—संमेलन, मिलना, एक होना, संघटना
(५) संभूय—एक होकर, साथ होकर, सहकार्य करके संघ बनाकर
(६) संभूय समुत्थान—व्यापारी संघ हिस्सेदार होकर व्यापार करना, मिलकर ऊपर उठनेका यत्न करना, मिलकर एक होकर शत्रुपर हमला करना.

ये अर्थ देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि " संभूति " शब्दमें " संघ " का भाव है। इसका अधिक विचार करनेके लिये " सं+भू " धातुसे बने हुए शब्दोंका प्रयोगही देखिये—

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते।
तत्संभूय समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्॥

(नारद स्मृति)

" वैश्य आदि लोग मिलकर (संभूय) सहकारिताके साथ व्यवहार करते हैं, उस व्यवहारको " संभूय समुत्थान " कहते हैं। "

यह "**संभूय समुत्थान**" अर्थात् सहकारिताका व्यवहार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंमें अपने अपने कार्यके लिये हुआ करता है। (१) ब्राह्मण धर्मजागृतिके लिये (२) क्षत्रिय शत्रुपर हमला करनेके लिये, (३) वैश्य व्यापार व्यवहार करनेके लिये और (४) शूद्र कारीगरीके संघ बनाकर अपना कार्य चलानेके लिये अपने अपने वर्णोंमें संघ बनाते हैं। यद्यपि वर्णोंके धर्मोंके अनुसार प्रत्येक वर्णका ' संभूय-समुत्थान " अर्थात् सहकारी संघ भिन्न भिन्न हेतुके लिये हुआ करता है तथापि संघकी कल्पना सर्वत्र एकसी ही है। तथा—

संभूय स्वानि कार्याणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेककर्मयोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना॥
हेमकाराद्यो यत्र शिल्पं संभूय कुर्वते।
कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांशतः॥
(बृहस्पति स्मृति)

" जो मनुष्य मिलकर, संघ बनाकर अपने अपने व्यवहार करते हैं उनके कर्मके अनुसार लाभमें उनको भाग देना चाहिये। सुनार आदि शिल्पी जहां संघ बनाकर कार्य करेंगे, वहां उनके कार्यप्रवीणताके अनुसार उनको लाभ मिलना चाहिये।"

इत्यादि स्थानोंमें " सम्+भू " धातुसे बने हुए ' संभूय ' शब्दका प्रयोग देखने योग्य है। यही कल्पना ' संभूति ' में है। तात्पर्य ' संभूति ' शब्दसे संघभावकी कल्पना व्यक्त होती है। अर्थात् " असंभूति " शब्दसे व्यक्ति-भावकी भावना प्रकट होती है। संघधर्म और व्यक्तिधर्मका इस प्रकरणमें वर्णन है यह बात उक्त स्पष्टीकरणसे ज्ञात हो सकती है। अब इस अर्थको स्वीकार करके उक्त मंत्रोंका भाव देखिये—

" (१) जो केवल व्यक्ति स्वातंत्र्यके भक्त होते हैं वे गिरते हैं, परंतु जो केवल संघशक्तिमें ही रमते हैं वे भी उनसे अधिक गिरते हैं। (२) व्यक्तिभावका और संघभावका फल भिन्न भिन्न है ऐसा हम ज्ञानियोंके उपदेशसे सुनते आये हैं। (३) जो व्यक्तिभाव और संघभावको साथ साथ उपयोगी समझते हैं वे व्यक्ति-भावसे दुःखोंको दूर करके संघभावसे अमर होते हैं। "

व्यक्ति धर्मका फल यह है कि उसके पालनसे व्यक्तिकी सत्ता उत्तम प्रकारसे रहती है । स्नान, ध्यान, भोजन व्यायाम आदिसे व्यक्तिधर्मका पालन होनेके कारण व्यक्तिकी सत्ता सुरक्षित रह सकती है । परंतु एक एक व्यक्ति सुरक्षित होनेपर भी संघभावके बिना उनमें बल नहीं बढ सकता । संघधर्मसे एक लाभ है और व्यक्तिधर्मसे दूसरा लाभ है । इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे व्यक्तिधर्मके पालनसे प्रत्येक व्यक्तिको उत्तम अवस्थामें रहनेका अवसर दें, और संघधर्मके पालनसे अपनी संघशक्ति बढाते हुए जातीयताके साथ अमर बनें । प्रत्येक मनुष्य यद्यपि मरणधर्मी है तथापि वह अपनी जातीय भावसे अमर हो है ।

"संभूति असंभूति" के प्रकरणमें यह उपदेश है कि संघभाव और व्यक्तिभावका समविकास ही आवश्यक है, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और संघशक्तिके ऐसे नियम बनाने चाहिये कि जिनसे किसी एकका घात न हो और दोनोंका समविकास होकर सबकी यथायोग्य उन्नति हो सके । तत्त्वज्ञानके अध्यायमें गणधर्म और व्यक्तिधर्मका अवश्य विचार होना चाहिये । व्यक्तिका जाति और राष्ट्रके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये, तथा जातिका अथवा राष्ट्रका व्यक्तिके साथ कैसा बर्ताव होना योग्य है, इसका योग्य उत्तर इस प्रकरणमें पाठक देख सकेंगे ।

जिस प्रकार ज्ञानक्षेत्रमें आत्माका ज्ञान और जगत्‌का ज्ञान साथ साथ आवश्यक है, उसी प्रकार कर्म क्षेत्रमें व्यक्तिके और समूहके कर्मोंका और परस्पर संबंधोंका विचार होना चाहिये । वही विचार इस प्रकरणमें किया गया है । प्रथम मन्त्रके साथ इन प्रकरणोंका विचार करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है । यह अर्थ अनंत प्रमाणोंके विचारसे होनेके कारण अधिक सयुक्तिक है ।

इस अर्थमें भाष्यकारोंके अर्थ आ जाते हैं । परमाणुसंघका नाम सृष्टि है और बिखरे हुए अलग अलग विभक्त परमाणु होनेसे वही मूल प्रकृति है । अर्थात् परमाणुओंका संघ " संभूति " शब्दसे भाष्यकारोंने लिया है, और परमाणुओंकी विभक्त स्थिति "असंभूति" से ली है । अर्थात् " संघभाव और

जसघभाव " ये अर्थ भाष्यकारोंको भी अभीष्ट है। यदि येही मूल अर्थ लिये जायेंगे तो अर्थका गौरव अधिक होगा। इसका पाठक भी अधिक विचार करें।

(१८) द्वैतवाद और अद्वैतवाद

तत्त्वज्ञानका विचार करनेके समय द्वैतवाद और अद्वैतवादका विचार होना आवश्यक ही है, और उपनिषदोंका विचार होनेके समय इस वादको दूर नहीं किया जा सकता। तथापि सांप्रदायिक झगडोंसे दूर रहना ही विचारी पाठकोंको उचित है ऐसा हमारा विचार हो रहा है। इस वादको साम्प्रदायिकोंने इतना खींचा है कि उसपर अब और खेंचनेसे कोई लाभ होना नहीं है।

वास्तविक द्वैत है या अद्वैत है, इसका विचार करते समय अनुभवको ही अंतिम कसौटी मानी जायगी तो निम्न प्रकार मानना पडता है—

आत्माकी चार अवस्थाएं

(ँ) तुर्या.. अज्ञेयस्थिति
(म) सुषुप्ति . निर्विकल्प समाधि } अद्वैतका अनुभव

(उ) स्वप्न, . सविकल्पसमाधि
(अ) जाग्रति... उपासनाकी अवस्था } द्वैतका अनुभव

ओ ३ म्

आत्माकी चार अवस्थायें हैं, उनमें दो अवस्थाओंमें द्वैतका अनुभव है और दूसरी दो अवस्थाओंमें अद्वैतका अनुभव है। प्रत्येक मनुष्यको इन चारों अवस्थाओंका अनुभव है। यदि आत्माकी ये चारों अवस्थायें हैं तो द्वैत भी है और अद्वैत भी है। पाठकोंसे यही निवेदन है कि वे साम्प्रदायिक झगडोंमें न जाय। उपनिषदोंमें और वेदमें भी ये आजकालके सम्प्रदाय नहीं हैं। वेद कहता है कि आत्माकी चतुर्विध शक्ति उक्त चार अवस्थाओं द्वारा अनुभवमें आती है। यही " चतुष्पाद् आत्मा " है। वेदमें आत्माके चारों पादोंका वर्णन कई स्थानोंमें है। दो पादोंमें हम द्वैतका अनुभव कर रहे हैं और अन्य दो पादोंमें अद्वैतका अनुभव ले रहे हैं। जाग्रति और स्वप्नके अनुभवमें निश्चित द्वैतका

ज्ञान है। " मैं " और " मैं–नहीं " ये दो पदार्थ इन दो अवस्थाओंमें है। " मैं तू, वह " इत्यादिका अनुभव इनमें आता है।

एकत्वका अनुभव

सुषुप्ति और तुर्याका अनुभव द्वैतका निश्चयसे नहीं है, परतु " एकत्व " का है। निश्चित्से एकत्वका है इस विषयमें किसीको शंका हो तो वह " अ–द्वैत " का अनुभव मान सकते हैं। उस अवस्थामें " द्वैत " का अनुभव निश्चयसे नहीं होता है, परतु " एक " का अनुभव होता या नहीं· यह प्रत्येक मानव नहीं कह सकते। जो कुछ अनुभव है वह शब्दोंमें प्रकट नहीं किया जा सकता, शब्दोंकी गति वहा नहीं है। वहा ऐसा अनुभव है कि जिसका वर्णन द्वैतवाचक शब्द नहीं कर सकते।

वास्तविक द्वैत और अद्वैतका भाव यह है। जिस समय मतमतातर चल पडते हैं उस समय बडे झगडे खडे होते हैं। उनसे हमें कोई वास्ता नहीं है। आत्माकी चार अवस्थायें होनेके कारण, द्वैत और अद्वैतका अनुभव होनेके हेतुसे, सर्वत्र द्वैतप्रतिपादक भी मत्रोंके साथ साथ अद्वैत प्रतिपादक भी मत्र हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें देखिये कई श्लोक शुद्ध द्वैतका प्रतिपादन कर रहे हैं, तो कई ऐसे हैं कि जो शुद्ध अद्वैत विचार ही बोल रहे हैं। यही बात उपनिषदोंमें है। वेदमत्रोंमें भी यही प्रकार है। ऐसा होनेका हेतु ऊपर दियाही है। बहुत लोग इस मूल कारणको ध्यानमें नहीं धरते और कहते हैं कि, ग्रथोंमें प्रक्षेप है; दूसरे कई समझते हैं कि एक प्रकारके मत्र मुख्य हैं और दूसरे गौण हैं। कई लोग अन्य रीतिसे खेंचातानी करके किसी न किसी प्रकार निर्वाह करनेकी चेष्टा करते हैं और स्वमतकी स्थापना करते हैं। परतु ऐसा करनेसे ग्रथका सच्चा आशय ध्यानमें नहीं आ सकता।

उक्त कारणसे ही अद्वैती लोग द्वैत–प्रतिपादक मत्रोंको खींचते हैं और द्वैती लोग अद्वैत–प्रतिपादक मत्रोंको खींचते रहते हैं। परतु उक्त रीतिसे यदि ये लोग वास्तविक बातको समझेंगे, तो खेंचातानीका कारण ही नहीं रहेगा।

इस यजु० अ० ४० में यदि देखा जायेगा तो वास्तविक रीतिसे सातवे मंत्रके सिवाय सबही अन्य मंत्र द्वैत प्रतिपादकही है। सातवें मंत्रका आशय निम्न प्रकार है " जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्माही हो गये, उस अवस्थामें एकत्वका अनुभव करनेवाले विज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकते है ?" (वा. य. ४०।७) यह एक अवस्थाका वर्णन है। इस अवस्थामें एकत्वका अनुभव होता है और उसी हेतुसे वहां शोक मोह नहीं बाधा करते। पूर्वोक्त कोष्टकमें " सुषुप्ति, समाधि और जीवन्मुक्ति " की जो अवस्था बताई है, उस अवस्थाका यह अनुभव है। यहा भेद दर्शन नही होता है। परन्तु चार अवस्थाओंमें यह एक अवस्था है। सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है ऐसा अन्य आस्तिक दर्शनोमें कहा है। यहा " ब्रह्म-रूप-ता " शब्द महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मके रूपके सदृश बनना है। इसी प्रकार ' सब भूत-मात्र आत्माही हो जानेकी अवस्था " है। आत्माके चार पादोमें किस पादकी अवस्थामें यह अनुभव हो सकता है, यह बात इस समयतकके वर्णनसे स्पष्ट हो चुकी है। इसलिये इस विषयमें यहा और अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। चार पादोंमेंसे किसी एक पादका अनुभव दूसरे पादोके अनुभवोको नष्ट नही कर सकता, इतनीही बात यहां ध्यानमें धरनी चाहिये।

इस मंत्रके सिवाय सब अन्य मंत्र स्पष्टही द्वैत प्रतिपादक हैं। उनके विषयमें किसीको कोई शंका नहीं हो सकती।

सारांश

इस प्रकार ईशोपनिषद् अथवा यजु. अ. ४० के विषयोंकी समालोचना है। इस पुस्तकमें दोनों संहिताओंके पाठ दिये हैं और स्पष्टीकरणमें वेदमंत्र, अन्य उपनिषद्के वचन तथा भगवद्गीताके श्लोकोंकी तुलना की है। इससे वैदिक धर्मके सदृश विचारोंके साथ पाठक अच्छी प्रकार परिचित हो जांयगे।

आशा है कि इस प्रकार तुलनात्मक विचारसे वेदका वास्तविक अर्थ समझकर, आत्मज्ञानविषयक वैदिक सत्य-सिद्धांत जानकर, पाठक अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करनेके लिये सिद्ध होंगे। निवेदक

श्री. दा. सातवलेकर

ओ३म्

वाजसनेयि–माध्यंदिन–शुक्ल ।

यजुर्वेद-संहिता-पाठः।

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोकाऽ अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽ आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽ एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्य-
दधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽ उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूयऽ इव ते तमो यऽ उ विद्यायाꣳ रताः ॥ १२ ॥
अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽ अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१६॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।
ओ३म् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

॥ इति चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह तेजो
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

॥ इति चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ईशोपनिषद्‌का

शांति-मंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

ओम्	यह सत्य है, कि
१ अदः पूर्णम्	वह पूर्ण है और
२ इदं पूर्णम्	यह भी पूर्ण है। क्योंकि,
३ पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।	पूर्णसे पूर्ण निकलता है।
४ पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते ।	पूर्णमेंसे पूर्ण लिया जाए तो भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।

(१) पूर्ण=परिपूर्ण, संपूर्ण, अनंत, जैसा चाहिए वैसा, जिसमे जरा भी कमी नही है ऐसा, शक्तिमान् । (१, ५) ओम्=है, ठीक, निःसंदेह सत्य, सत्य । (अवति इति ओम्) =रक्षक; सबका रक्षण करनेवाला ।

१-अदः = वह (आदितत्व, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश)

२-इदं = यह (जगत्, सृष्टि, विश्व, दृश्य, व्यक्त, अनात्मा, अनीश।)

भावार्थ – ब्रह्म पूर्ण है और उस पूर्ण ब्रह्मसे प्रकट हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्ण बनता है। पूर्ण ब्रह्ममेंसे यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है, तो भी इससे उस ब्रह्ममे किसी भी प्रकारकी कोई भी न्यूनता नहीं हुई है; क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्णमेंसे पूर्ण निकाला जाए तो मूल पूर्णमे कोई भी न्यूनता नही होती।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

५ ओम्	हे सर्व-रक्षक !
शान्तिः	(वैयक्तिक) शान्ति,
शान्तिः	(सामाजिक) शान्ति,
शान्तिः	(सांसारिक) शान्ति,
	(सर्वत्र स्थिर हो ।)

(५) शान्तिः = शांतता, समता, विषमताका अभाव। " (वैयक्तिक) शांति=व्यक्तिके शरीरमें समता, सप्तधातुकी समानता, मन, बुद्धि, इन्द्रियो आदि सबमें वैषम्यका अभाव, उत्तम निर्दोषता, उत्तम आरोग्य इत्यादि। " (सामाजिक) शांति=" समाजमें सब वर्णों तथा सब जातियोंमें समता और अविरोध। " (सांसारिक) शांति = " भूमि, जल, अग्नि, वायु, भूकम्प आदियोंसे निर्भयता, अथवा इनसे होनेवाली आपत्तियोंसे बचाव करनेकी यथासंभव उपाययोजना करके शान्तिकी स्थापना करना।

भावार्थ---साधक जीव जगत्में समबुद्धिसे रहे; पूर्णका ध्यान करता हुआ वह स्वयं पूर्णत्वको प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करे। इसमें वैयक्तिक शांतिका अभिप्राय यह है कि अपने ही शरीरसे, सब आत्मिक और प्राकृतिक शक्तियोंके बीचमें स्वस्थता और समताको साधना, यही प्रथम पुरुषार्थ है। जाति, समाज, राष्ट्र अथवा मानव-समाज, इनमें समता और अविरोध स्थापना यह दूसरा पुरुषार्थ है; और सारे जगत्में शांतता उत्पन्न करनेके लिए कर्तव्यकर्म करना यह तीसरा पुरुषार्थ है प्रत्येकको अन्तिम सिद्धि द्वारा क्रमशः जीवन-मुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति मिलती है।

ॐ

ईशोपनिषद्

आत्म-ज्ञान

(१) आत्मोन्नतिका मार्ग।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

१ ईशा वास्यं इदं सर्वं	ईशसे वसनेयोग्य यह सब है।
२ यत् किं च जगत्यां जगत्	जो कुछ जगतीमें जगत् है।

(१) ईशा=स्वामी, प्रभु ईश्वर, नियामक, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म। "वास्यं"=(वस्)=रहना, होना, प्रतीत होना, परिधान करना, ओढना, आच्छादन करना, स्थिर करना, प्रीति करना, लेना, स्वीकारना. अर्पण करना। 'ईशा वास्यं'= स्वामीसे वसनेयोग्य; स्वामी होकर वसने लायक। ईश्वरसे ओढा हुआ अथवा आच्छादित हुआ हुआ; देवके द्वारा प्रीतिसे दिया हुआ। ईशा वास्यं इदं जगत्। स्वतंत्र नियामकके द्वाराही रहनेयोग्य यह जगत् है। परतंत्र गुलाम बने हुएके रहनेयोग्य यह जगत् नहीं है।

(२) जगत् = हिलनेवाला, बदलनेवाला, चंचल, अस्थिर, जगत्, मनुष्य। जगती = बदलनेवाली, सृष्टि, विश्व, मानव-जाति। जगत्यां जगत् = नित्य परिवर्तनशील जगत्, समुदायमें बदलनेवाला एक पदार्थ। अनेकोंमें एक; सङ्घमें व्यक्ति; समष्टिमें व्यष्टि; मानवजातिमें एक मनुष्य। जातिमें एक।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।	उसका दानसे उपभोग
४ मा गृधः।	लोभ मत कर।
५ कस्य स्वित् धनम्?	किस एक व्यक्तिका भला धन है?

३ त्यक्त = त्यागा हुआ, दान किया हुआ, धर्मके लिए समर्पित किया हुआ। भुञ्जीथाः = (भुज्) = भोगना, खाना, उपभोग करना, स्वयं अपने लिए उपभोग करना, अपने अधिकारमें रखना, शासन करना, अपनासा कर लेना। त्यक्तेन भुञ्जीथाः = दान करके भोग कर; दान देकर अवशिष्ट रहे हुएका उपभोग कर; जगद् उपकारके लिए समर्पण करना ही अपना वास्तविक उपभोग है ऐसा समझो।

(४) मा गृधः = अपने अधिकारमें जो जगत्का भाग आया हुआ हो, उसका भी लोभ मत कर, उसका उपभोग करना हो तो दान करके कर। दूसरेके पदार्थका लोभ तो कभी भी मत कर।

(५) स्वित् = शंका, आश्चर्य, ठीक है क्या? भला? कस्य स्वित् धनम्? = भला धन किस एक व्यक्तिका है? धन मेरे अकेलेका है ऐसा माननेवाले लोग मृत्युके समय धन छोडकर चले जाते हैं, अतः धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है यह बिलकुल सत्य है। तो यह किसका है? इसका उत्तर कस्य धन = (कः) प्रजापतिका धन है। प्रजापालन करनेवालेका धन है, अथवा सर्व जनताका धन है, क्योंकि व्यक्तिके मरनेपर भी समाज अमर रहता है; अतः सब धन सब जनताका है और जनताका है इसी लिए व्यक्ति उसे जनताके अभ्युदयके लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुएसे ही सन्तुष्ट होकर उसका भोग करे। सब धन सम्पूर्ण जनताका है। वह किसी भी एक व्यक्तिका नहीं है, अतएव व्यक्तिको धनका लोभ छोड देना चाहिए और सबके उपकारार्थ उसका व्यय करके जो कुछ शेष बचे, उससे अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए उपभोग करना चाहिये।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

५ इह कर्माणि कुर्वन् एव,	यहां प्रशस्त कर्म करता हुआ ही
७ शतं समाः जिजीविषेत्।	सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे।

(६) कर्म = प्रशस्ततम कर्म, श्रेष्ठ पुरुषार्थ, सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म, जनताकी उन्नतिके कर्म, लोकसंग्रहकारक उपकार कर्म। अकर्म = अकर्म दो प्रकारके है- (१) जो किये हुए भी न किए हुएके बराबर हैं; और वैयक्तिक अस्तित्वके लिये ही केवल जो कारणीभूत हैं वे। (२) निष्काम कर्म। विकर्म = विरुद्ध कर्म, अयोग्यकर्म, व्यक्ति और समाजकी हानि करनेवाले कर्म। ये कर्मके तीन भेद हैं। इस मन्त्रमें पहिला अर्थ विवक्षित है। इह = यहां, इस जगत्में।

(७) शतं समाः = सौ वर्ष, इच्छाशक्ति उत्पन्न होनेके बादके सौ साल, अर्थात् यदि २० वर्षकी आयुमें इच्छाशक्ति प्रकट होती है, ऐसा मान ले तो तबसे सौ साल जीनेकी इच्छा प्रयत्नपूर्वक करे, इस प्रकार १२० सालकी मानवी आयु होती है। अत एव ज्योतिष् गणितकारोंने यही मान स्वीकारा है। इतना पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेकी प्रयत्नपूर्वक इच्छा रखनी चाहिए, ऐसा उपदेश यहां पर है। 'श्रेष्ठोंका सत्कार, साथियोंके साथ संगति और नीचेकी स्थितिमें रहनेवालोंको दान' ये तीन कर्म यज्ञमें मुख्य हैं। इस कारण यज्ञद्वारा जनताका मेल तथा उन्नति होती है। सब यज्ञकर्मोंका यही ध्येय है। सब यज्ञ ऐसे लोकसंग्रहकारक होनेसे ऐसे लोकसंग्रहकारक प्रशस्त कर्मके लिए अपने पासके धनका व्यय करना सबके लिए उचित है। (१) अज्ञानियोंको ज्ञानदान, (२) बडोंका आदर, (३) अतिथियोंका सत्कार, (४) भूतमात्रपर दया, और (५) भूमि जल आदि दैवी शक्तियोंका आदरपूर्वक प्रयोग; ये पांच श्रेष्ठ (यज्ञ) कर्म प्रत्येक मनुष्यके लिये करने आवश्यक हैं।

एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

८ एवं त्वयि,	यह (ज्ञान) तेरेमें (हो),
९ इतः अन्यथा न अस्ति।	इससे दूसरा (मार्ग) नहीं।
१० कर्म नरे न लिप्यते।	कर्म नरको दूषित नहीं करते।

(८) एवं त्वयि = यहांतक जो सात उपदेश कहे, वे तुम जैसे साधकमें स्थिर हों।

(९) इतः अन्यथा नास्ति = उन्नतिके लिये इसके सिवाय भिन्न मार्ग नहीं है।

(१०) नरः = (न रमते) जो भोगोंमें रमता नहीं वह। कर्म नरे न लिप्यते = जो भोगोंमें फस कर अपने कर्मोंसे च्युत नहीं होता, ऐसे मनुष्यको कर्मोंसे होनेवाला दोष नहीं लगता।

[सूचना- यहांतक जो आत्मोन्नतिका मार्ग कहा है वह यह है—

"(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व मानते हुए, वह हमारे कर्मोंको देखता है ऐसा मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके सुखमें व्यक्तिका सुख है ऐसा मानना, (३) दान करके बचे हुएका स्वतः भोग करना। (४) लोभ न करना, (५) सब धन मुझ अकेलेका नहीं है पर वह सब प्रभुका है ऐसा मानना, (८) इसी एक आत्मोन्नतिके मार्गपर दृढ विश्वास रखना, (९) उद्धारका इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना, (१०) सत्कर्म कभी बन्धन नहीं करते ऐसा मानना"। इस मार्गपर चलकर अपने जीवनको सार्थक करनेवाले लोग " समर्थ " बनकर जगत्में आदर्शभूत बनते हैं और बंधनसे मुक्त होकर अंतमें उस स्थानको जाते हैं, जहां कि आत्मोन्नति करनेवाले लोग जाते हैं परन्तु इस मार्गको न स्वीकारते हुए जो लोग आत्मघातके मार्गसे जाते हैं उनकी क्या दशा होती है, इसको तीसरे मन्त्रमें देखिए।]

(२) आत्मघातका मार्ग।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।

११ असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः।	बलके लिए प्रसिद्ध ऐसे वे लोग, गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं।

(११) असुर्य- 'असु+र' - 'असु' अर्थात् प्राण। उस प्राणकी शक्तिको जो (रा-देना) देता है वह 'असु+र' है। यह 'असुर' शब्द वेदमें 'आत्मा, परमात्मा, ईश्वर,' का वाचक है। अतः उनकी जो प्राणशक्ति है उसका नाम 'असुर्य' है। "प्राणियोंको प्राणशक्ति देनेवाले देवकी प्राण-शक्ति" यह इसका अर्थ है। यह शक्ति जैसी देवोंमें वैसीही राक्षसोंमें, और जैसी सज्जनोंमें वैसीही दुर्जनोंमें रहती है। प्रत्येक शरीरमें जो बल है, वह इसी शक्तिके कारण है। शरीरमें प्राणशक्तिके नीचे जो इन्द्रियशक्ति और शारीरशक्ति कार्य कर रही है वह इसी असुर्य शक्तिके कारण है। इससे स्पष्ट हुआ कि 'असुर्य' अर्थात् 'इन्द्रियोंमें और शरीरमें कार्य करनेवाले बल'। इनसे जो भिन्न हैं वे आत्माके दूसरे बल हैं, और वे प्राणसे भी उत्कृष्ट हैं, वे मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा प्रकट होते हैं। बुद्धि और मनमें जो चैतन्य सामर्थ्य प्रकट हुआ है वह इस 'असुर्य' नामक बलसे भिन्न है। 'असुर्या नाम ते लोकाः'=केवल जो शारीरिक बलके लिए प्रसिद्ध हैं ऐसे जो लोग हैं, वे शारीरिक बल दिखाना, दगा फिसाद करना, मारपीट करना, आदि व्यवहारके लिए प्रसिद्ध हैं। सत्य, न्याय, धर्म, मानवीय उच्च आदर्श आदि बातोंके समझनेकी योग्यता इनमें नहीं है। यद्यपि इनके शारीरिक बल आत्मासेही आए हुए बल हैं, तथापि वे अपने अज्ञानके कारण असन्मार्गमें लगे होते हैं, अतएव "अन्धेन तमसा आवृताः"=वे लोग "अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हुए हुए हैं"=ऐसा समझा जाता है। "ये के च आत्महनः जनाः ते तान् प्रेत्य (अपि) गच्छन्ति।=जो कोई

तान्ँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति	वे मृत्युके बाद उनमें जाते हैं
ये के च आत्महनः जनाः	जो कोई आत्मघाती जन हैं ।

आत्मघाती जन हैं, वे वैसे मूर्ख लोकोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं, अर्थात् उनकी जीतेजी भी इन लोगोंमें गणना होती है। 'जन' = जन अर्थात् केवल प्रजनन करके कैसी भी संतति उत्पन्न करनेमें ही जो समर्थ हैं जिनसे इसकी अपेक्षा अन्य कोई प्रशंसनीय मानवीय कर्तव्य होना संभव नहीं है। ये जन आत्मोन्नतिका पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ हैं और इनके कष्ट होनेसे इनसे यदि कोई कार्य हो भी गया, तो वह आत्माकी अवनतिका ही होता है, इसलिए इन्हें यहां आत्मघातकी कहा गया है। पूर्वके दो मन्त्रोंमें जो मार्ग बताया है, उस आत्मोन्नतिके मार्गका अवलम्बन न करते हुए, उसके विरुद्ध आत्मघाती मार्गोंकाही ये अवलम्बन करते हैं।

आत्मघातका मार्ग यह है—

" (१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व न मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके आधारसे व्यक्ति स्थित है ऐसा न मानकर, व्यक्तिका यथा संभव स्वार्थ बढाते हुए, उससे सबके नाशके लिये कुकर्मोंको करते रहना, (३) स्वार्थपूर्वक भोग करना, (४) लोभ करना, (५) सब धन केवल मेराही है ऐसा मानना, (६) सदा कुकर्म करना, (७) जिनसे आयु क्षीण हो ऐसे हीन कर्म करते जाना, (८) एक सन्मार्गपर मनको स्थिर न रखना, (९) विपरीत मार्गोंपर विश्वास रखना (१०) सत्कर्म भी बंधन है ऐसा मानना। "

ये दस प्रकारके मार्ग आत्मघातके हैं। इन मार्गोंसे जो जाता है वह किस प्रकारसे अधोगतिको प्राप्त करता है यह बात इस मन्त्रने दिखलाई है।

(३) आत्म-तत्त्वका वर्णन ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो

१२ एकं, अन्-एजत्, पूर्वं, अर्शत्, मनसः जवीयः ।	वह एक, चञ्चलतारहित, सबसे पुरातन, स्फूर्ति देनेवाला, मनकी अपेक्षा वेगवान् है ।

[प्रथम मन्त्रमें ' ईश सर्वत्र बसता है, ' ऐसा कहा है परन्तु वह एक है अथवा अनेक ? और उसका क्या सामर्थ्य है ? इस विषयमें कुछ नहीं कहा है। यद्यपि वहा ' ईश ' ऐसा एकवचनका प्रयोग है तथापि यह सदेह हो सकता है कि कदाचित् वह जातिवाचक एकवचन हो; अत उपरोक्त शकाको दूर करनेके लिए इस मन्त्रमें वह 'एक' ही है ऐसा कहकर उसके गुणोंका वर्णन किया है। वे गुण इस प्रकार हैं–] 'एकं '=वह पूर्ण ब्रह्म एक है। अनेजत्'=वह हिलता नहीं अर्थात् वह स्थिर है। वह सर्वत्र व्याप्त होनेसे इधर उधर नहीं जाता, वह चंचल नही है। 'पूर्वं =वह सबसे पूर्वका है। जगत् निर्माणके भी पूर्व वह था। ' अर्शत् ' = (ऋष=गति) सबको गति देनेवाला है, स्फूर्ति देनेवाला है, वह चालक, प्रेरक और निरीक्षक है।'मनसः जवीयः '= वह मनकी अपेक्षा वेगवान् है । आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिया और शरीर इस क्रमसे देखे तो, प्रथमकी अपेक्षा दूसरेमें गति कम और तीसरेमें उससे भी कम इस प्रकारसे गति कम होती जाती है। इसलिए वह मनसे ऊपर दो तीन सीढीयां आगे होनेसे मनसे भी अधिक वेगवान् है। मन चचल है, पर मन जिसका चिंतन करता है वहा वह ब्रह्म पूर्वसेही व्याप्त होनेसे, मनसे पूर्व वह सर्वत्र फैला हुआ है। [मनसे वह अत्यन्त वेगवान् होनेसे प्राप्त नहीं कर सकता यह बात स्पष्टही है, परन्तु इतर ' देव ' (इन्द्रिया) उसे प्राप्त कर सकते है वा नहीं ? इस शकाका उत्तर इस प्रकार है—]

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्

१३ देवाः एनत् न आप्नुवन्	इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं करतीं।
१४ तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति ।	वह स्थिर होता हुआ दौडते हुए दूसरोंके आगे जाता है।

(१३) देवाः एनत् न आप्नुवन् = देवोंके तीन क्षेत्र हैं। 'व्यक्तिगत देव' व्यक्तिमें आंख, कान आदि इन्द्रिया देव हैं। ये इन्द्रियां बहिर्मुख होनेसे इन्हें अन्तरात्माका दर्शन होता नही। 'मानव-समाजस्थ देव' = ज्ञानी (शब्द शास्त्री), शूर, व्यापारी, कारीगर, ये मनुष्य-समाजमें देव हैं। ये व्यवहारमें जुटे रहते हैं अतः इन्हें भी परमात्म-साक्षात्कार नहीं होता। "जगत्में स्थित देव" = अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि देव जगत्में हैं। वे भी ब्रह्म साक्षात्कारके अधिकारी नही हैं। इस प्रकार ये तीनों क्षेत्रोंके देव अन्तरात्माको पा नहीं सकते। व्यवहारमें न फसते हुए जो बन्धनसे छूटता है, व निःसंग वृत्तिसे रहता हुआ उस परमात्माके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है वही सन्त उसे प्राप्त कर सकता है।

(१४) "तिष्ठत्" = वह ब्रह्म स्थिर है। ऐसा होते हुए भी वह "धावतः अन्यान् अत्येति" = दौडते हुए दूसरे पदार्थोंके भी पहिले गया हुआ होता है। व्यक्तिमें इन्द्रियां दौड रही हैं, समाजमें मनुष्य भागदौड मचा रहे हैं, जगत्में सूर्य, चंद्रादि नक्षत्र भी दौड रहे हैं। परन्तु ये सब जहां दौड कर जाते हैं, वहां पहिलेसेही ब्रह्म पहुंचा हुआ होता है। चाहे कोई कितना भी तेज दौडता हो पर वह इस आत्मासे पूर्व पहुंचनेके स्थानपर पहुंच नहीं सकता। (दूसरे मन्त्रमें 'प्रशस्त कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीनेकी प्रयत्नपूर्वक इच्छा करनी चाहिए" ऐसा कहा है। परन्तु इसपर ऐसी शंका उठती है

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

१५ तस्मिन् मातरि-श्वा अपः दधाति ।	उसके आधारसे माताके(गर्भमें) रहनेवाला(जीव)कर्मोंका धारण करता है ।

कि अन्तके जो कर्म होंगे, उनका फल मृत्यु हो जानेसे उस व्यक्तिको नहीं मिलेगा और ऐसी दशामें क्या वे उत्तम कर्म व्यर्थ जाएगें ? इसका उत्तर " किए गए कर्म व्यर्थ नही जाते " ऐसा अग्रिम मन्त्रभागमे दिया हुआ है, उसे अब यहाँ देखिए -]

(१५) 'मातरि-श्वा'=माताके उदरमें रहनेवाला जीव, जिसका पूर्वका शरीर छूट गया है और जिसका दूसरा देह बन रहा है, वह माताके गर्भमें आया हुआ जीव, ' तस्मिन् अपः दधाति ' = उस ब्रह्मके आधारसे अपने कर्म धारण करता है । जिस प्रथम शरीरसे कर्म किये थे वह यद्यपि नष्ट हो गया और आगेका शरीर नहीं भी मिला, तो भी इससे पूर्व कृत अच्छे बुरे कर्म नष्ट नही होते । परमेश्वरके त्रिकालमें स्थिर नियमोंसे वे कर्म संस्कार रूपसे आत्माके पास रहते हुए जीवको अच्छे बुरे भोग देते ही हैं । [अथवा ' ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन० । ' (भ. गी. ५।१०) ब्रह्मको समर्पण करते हुए आसक्तिरहित कर्म जो करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है । ' इस गीताके वचनानुसार भी इस मन्त्रभागका अर्थ हो सकता है । ' तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति '= उस ब्रह्मको कर्म समर्पण करते हुए जो जीव कर्म करता है, (वह पापसे बद्ध नही होता) । दूसरे मन्त्रमें ' नर कर्मसे लिप्त होता नहीं ' = ऐसा कहा है, वह किस प्रकारसे ? यह इस मन्त्रभागने दिखाया है, ऐसा यहा सम्बन्ध जानना चाहिए ।] इस मन्त्रमे कहे अनुसार आत्माका ध्यान करना चाहिए । (इस मन्त्रभागसे पुनर्जन्मकी कल्पना उत्तमतया दिखाई गई है ।)

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

१६ तत् एजति (एजयति)	वह हिलाता है, (परन्तु)
१७ तत् न एजति ।	वह (स्वयं) हिलता नहीं ।
१८ तत् दूरे	वह दूर है, (और)
१९ तत् उ अन्तिके ।	वह निश्चयसे समीप (भी है)
२० तत् अस्य सर्वस्य अन्तः	वह इस सबके अन्दर है।(और)
२१ तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः	वह निश्चयसे इस सबके बाहर (भी है)

(१६-२१) तत् = वह, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पूर्ण ईश्वर ।

(१६) " तत् एज (य) ति = वह सबको प्रेरित करता है, चलाता है, फिराता है परन्तु—

(१७) ' तत् न एजति ' = वह स्वयं हिलता नहीं, चचल नहीं होता । वह सदा स्थिर व अचल रहता है ।

(१८-१९) ' तत् दूरे, तत् उ अन्तिके ' = वह दूर है और निश्चयसे पास भी है; अर्थात् वह सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त है, अथवा वह अज्ञानी मनुष्यको अत्यन्त दूर और अप्राप्य प्रतीत होता है, इसके विरुद्ध ज्ञानी भक्तके वह अत्यन्त समीप है ।

(२०-२१) " तत् अस्य सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च " = वह इस सबके अन्दर और बाहर है, वह कहीं नहीं, ऐसा नहीं । सबके अन्दर है इसका अर्थ यह मनुष्यके अन्दर भी है ही । अत वह वस्तुत अत्यन्त समीप है, पर भक्तिहीन मनुष्यको उसके समीप होते हुए भी उसके समीप होनेका अनुभव नहीं होता । [प्रथम मंत्रमें ' ईश सर्वत्र बसता है ' ऐसा कहा है । वही उपदेश ४ और ५ वे मंत्रोंमें अधिक स्पष्ट किया है ।]

(४) आत्माकी व्यापकता ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

२२ यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति ।	जो वास्तवमें सब भूतोंको आत्मामें अनुभवसे देखता है,
२३ सर्वभूतेषु च आत्मानं अनुपश्यति ।	(और) सब भूतोंमें आत्माको अनुभवसे देखता है, (वह)
२४ ततः न विजुगुप्सते ।	किसीका तिरस्कार नहीं करता ।

[पूर्वके दो मन्त्रोमें जो ईशके गुणोका वर्णन किया है वह केवल शाब्दिक बोधके लिये नही है, वह मनुष्यके स्वभाव और आचरणमे आना चाहिए, मनमे रहना चाहिये और कार्यमे परिणत होना चाहिए । वह आचरणमें आने लगा तो मनुष्यमे कैसी समवृद्धि होती है वह इसमे दिखायी है ।

(२२) ' यः भूतानि आत्मनि अनुपश्यति ' =जो मनुष्य उत्पन्न हुए हुए सब पदार्थ, विशेषत सर्व प्राणिमात्र, आत्माके अन्दर है, ऐसा अनुभवसे विश्वासपूर्वक जानता है; और इसी प्रकार—

(२३) ' सर्वभूतेषु आत्मानं = सर्व भूतोमे उस एक अद्वितीय आत्माको अनुभवपूर्वक देखता है, वह सब भूतोके अन्दर बाहर आत्माका विश्वासपूर्वक अनुभव लेनेके कारण,

(२४) ' ततः न विजुगुप्सते '=किसी भूतमात्रका तिरस्कार नहीं करता, उनसे दूर रहनेका भाव उसके मनमे नही आता, उसके विषयमे कोई भी संदेह मनमे नही होता । (वाजस० पाठ.) ' ततो न विचिकित्सति '=उनके विषयमें संशय नही करता । सर्व भूतोके विषयमे वह समान आत्मभाव

(५) सर्वत्र आत्मभाव ।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

२५ यस्मिन् विजानतः	जहां विज्ञानीकी
आत्मा एव	आत्मा ही
सर्वाणि भूतानि अभूत्;	सर्व भूत बन गयी;
२६ तत्र एकत्वं अनुपश्यतः	वहां एकत्व अनुभव करनेवालेको
कः मोहः !	मोह कैसा ? और
कः शोकः ?	शोक भी कैसा !

मनमें रखता है। उसकी सर्वत्र समदृष्टि होती है। पूर्वके मन्त्रोंमें कहा अनुभव अधिक दृढ होनेके पश्चात् ' सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है, ' इतनेही अनुभवपर स्थिर न रहता हुआ, ज्ञानीभक्त उससे ऊपरकी भूमिका पर जाकर सर्वत्र ' आत्मैकत्वकी महिमा ' का प्रत्यक्ष करता है। यह अनुभव इस मन्त्रने बताया है—]

(२५) वि+जानत् = विशेष रीतिसे जाननेवाला, देखनेवाला, अनुभव लेनेवाला, विशेष ज्ञानी। " विजानतः " ऐसे ज्ञानीके लिए ' यस्मिन् ' = जब, जिस समय, जिस अवस्थामें, जिस भूमिकापर पहुंच जानेके बाद, जो अनुभव मिला, वह है; ' आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत् ' = आत्माही सर्व भूत बने, आत्मस्वरूपही सब विश्व भासने लगा, ऐसा जानकर अन्तमें यह जानना कि सामर्थ्य समर्थका निज ऐश्वर्य है और वह उससे भिन्न नहीं है। ऐसा जिसको ठीक अनुभव हुआ; उसमें सर्वात्मभाव स्थिर हुआ ऐसा समझना योग्य है।

(२६) तत्र = वहां, उस अनुभवकी अवस्थामें; ' एकत्वं अनुपश्यतः ' = सर्वत्र एक आत्मतत्त्वका अनुभव लेनेवाले उस ज्ञानी मनुष्यको, ' कः मोहः, कः शोकः ' = कौनसा मोह भ्रममें डालेगा और कौनसा शोक

(६) परमात्माके गुण-वर्णन।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्-

२७ स पर्यगात्,	वह सर्वत्र व्यापक है।
अकायं	वह देह-रहित,
अस्नाविरं, अव्रणं	स्नायु-रहित, व्रणरहित,
शुद्धं, अपापविद्धं, शुक्रं;	शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी (समर्थ),
२८ कविः, मनीषी,	द्रष्टा, ज्ञाता (मनका स्वामी),
परिभूः, स्वयंभूः।	विजयी और स्वयभू है।

भला दु ख उत्पन्न करनेमे समर्थ होगा ? ऐसे ज्ञानीको मोह और शोक जरा भी कष्ट नही पहुचा सकते, वे उसे छूभी नही सकते। ['ईश सर्वत्र है' ऐसा जो प्रथम मत्रने कहा है, उसका पुन अधिक स्पष्टीकरण इस आठवे मत्रने किया है, और वह " शुद्ध, समर्थ, सर्वज्ञ, स्वयभू, व्यवस्थापक है, ऐसा यह मत्र बतला रहा है—]

(२७) 'स पर्यगात्' =वह आत्मा सब स्थानमे पहुचा हुआ है, सर्व व्यापक है, वह सब जानता है, सर्वज्ञ है। 'अ-काय, अस्नाविर, अव्रण' = वह शरीररहित है अत एव वह स्नायु और व्रणसे रहित है। 'अ-पाप-विद्ध' = वह पापोंसे ग्रस्त नहीं है। वह निष्पाप है। 'शुद्ध, शुक्र' = वह पवित्र होनेसे निष्पाप, तेजस्वी और समर्थ है।

(२८) 'कविः' = (क्रान्तदर्शी) उसे अतीन्द्रिय ज्ञान है। आखोसे जो दीखता है उसे देखता हुआ उससे परेका भी देखनेवाला वह कवि है। 'मनीषी' = मनको स्वाधीन रखनेवाला है। 'परि-भूः' = सबसे श्रेष्ठ

*

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(७) ज्ञानक्षेत्र ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

२९ याथातथ्यतः	(उसने) योग्य रीतिसे
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः	अनादि कालसे सब
अर्थान् व्यदधात् ।	अर्थोंकी व्यवस्था की है ।
	जो अनात्मज्ञानकी (ही केवल)
३० ये अ-विद्यां उपासते	उपासना करते हैं ।
ते अन्धं तमः प्रविशन्ति ।	वे गाढ अंधकारमें जाते हैं ।

सबपर प्रभाव डालनेवाला । ' स्वयं-भू ' = अपनी शक्तियोंसेही स्थित होनेवाला, जिसको दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है ऐसा यह आत्मा है ।

(२९) ' अर्थः '=विषय, प्राप्त करवानेके साधन । ' शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् '=अनादिकालसे इन्द्रिया और उनके विषयोंको योग्य रीतिसे तथा व्यवस्थासे उसने निश्चित कर रखा है । [पूर्वके सात मन्त्रोंमें दिखाया ज्ञान अनुभवसे आत्मसात् कर लेनेपर उस ज्ञानी भक्तकी योग्यता इस मन्त्रमें वर्णन किए अनुसार हो जाती है । जीवात्मा परमेश्वरका अमृतपुत्र होनेसे, पूर्वोक्त प्रकारोंसे आत्मशक्तिका विकास करके अपने पिताके समान होता है । परम पिताके सर्व गुण पुत्रमें विकसित हुए हुए दिखते हैं । इन गुणोंका मनुष्यमें विकसित होनाही उपासककी अन्तिम सिद्धि है ।]

(३०-३१)' विद्या '=ईश-विद्या, ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, विद्या, ' अविद्या ' = अनीश-विद्या, अनात्म-विद्या [प्रकृति-विद्या, सृष्टिविद्या, ' जगद्विद्या] अविद्या । प्रथम मंत्रमें ' ईशा वास्यं इदं सर्वं० जगत्=ईशसे बसनेयोग्य यह सब जगत् ' है ऐसा कहा है । यही ज्ञान अनुभवसे जानना है । यही मनुष्यका ' ज्ञानक्षेत्र ' है । इसे जाननेके लिए ' ईश ' कौन है !

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

३१ ये उ विद्यायां रताः ते ततः भूयः इव तमः ।	जो केवल आत्मज्ञानमें रमते हैं, वे तो उनसे भी मानो अधिक अंधकारमें जाते हैं ।

और ' जगत् ' क्या है ? इन दो बातोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। ' ईश और अनीश (=जगत्) ' इन दो पदार्थोंके ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ईशकी विद्या और अनीशकी विद्या अर्थात् सृष्टिकी विद्या प्राप्त करनी चाहिए । आत्माका ज्ञान ' विद्या ' और आत्मासे भिन्न अनात्माका ज्ञान ' अविद्या ' है । अविद्या अर्थात् अज्ञान-ज्ञानहीनत्व-नहीं, क्योंकि मनुष्यके परमकल्याणार्थ जैसे आत्माको जानना चाहिए वैसेही जगत्को भी जानना चाहिए । जगद्विद्यासे अभ्युदय-ऐहिक उत्कर्ष होता है और आत्मविद्यासे निःश्रेयस अर्थात् आत्मिक शक्तिका विकास होता है । इसलिए परम कल्याण साधनेके लिए इन दोनों विद्याओंको प्राप्त करना चाहिए । ये दोनोंही ज्ञान प्राप्त न करते हुए यदि, कोई मनुष्य किसी एकही विद्यामें रमेगा और दूसरीकी ओर दुर्लक्ष्य करेगा तो उसकी कैसी अवनति होती है यह इस मंत्रमें उत्तमतया दर्शायी है ।

(३०) ' अविद्योपासक ' = सृष्टिविद्याकेही जो केवल उपासक हैं, अर्थात् जो आत्मविद्याकी ओर पूर्णतया दुर्लक्ष्य करके केवल सृष्टिविद्याके पीछे लगे हुए हैं वे इस संसारमें व्यवहारके उपयोगी सुखके विपुल और उत्तमोत्तम साधन निर्माण तो कर लेंगे, पर केवल भोगेच्छा बढा लेनेसे कालान्तरसे उनकी स्वार्थी भोगतृष्णा अत्यन्त बढगी और वे अपने सुखके लिए दूसरोंकी बलि लेनेकी खटपट करेंगे, जिससे इनके प्रयत्नोंसे जगत्में अशान्ति बढकर दुःख बढेंगे, अतः वे ' अन्धं तमः प्रविशन्ति ' - गाढ अंधकारमें प्रविष्ट होते हैं ऐसा यहां कहा है ।

(३१) ' विद्यारताः ' = केवल आत्मविद्यामेंही जो रमते हैं अर्थात् सृष्टि विद्याकी ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य करके केवल आत्मविद्यामेंही रमते हैं और उसके

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।

३२ विद्यया अन्यत् एव आहुः,	आत्मज्ञानका (फल) भिन्न (है ऐसा) कहते हैं (और)
३३ अविद्यया अन्यत् आहुः।	अनात्मज्ञानका (फल) भिन्न है ऐसा) कहते हैं ।

सिवाय और कुछ नहीं करते, वे सृष्टि विद्याके उपासकोंसे भी अधिक गाढ अन्धकारमें जाते हैं। क्योंकि जीवनयात्रा चलानेके लिए अत्यन्त आवश्यक और उसीसे प्राप्त होनेवाले व्यवहारके सुख-साधन भी इन्हें नहीं मिलते। इस प्रकार न प्रपंच और न परमार्थ, ऐसी इनकी स्थिति हो जाती है। [केवल सृष्टिविद्योपासक प्रपंचके साधन बढ़ाकर कुछ तो चैन करते हैं, पर केवल आत्मविद्यामें रमनेवाले और उसके सिवाय कुछ न करनेवाले मनुष्य, यदि उनके लिए दूसरोंने कुछ भी न किया, तो वे ऐहिक साधनोंके बिना जीवित भी नहीं रह सकते। अतः उनकी अधिक हीन अवस्था होती है, ऐसा जो इस मन्त्रद्वारा कहा है, वह नितांत सत्य है।]

(३२) ' अविद्यया अन्यत् '= आत्मज्ञानसे एक भिन्नही फल मिलता है। इस आत्मविद्यासे आत्मशक्तिका विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द मिलता है, आत्मिक बल बढ़ता है, मनुष्य निर्भय होता है और सच्ची शान्तिका अनुभव मिलता है।

(३३) ' अविद्यया अन्यत् '= अनात्माकी अर्थात् जगत्‌की या सृष्टिकी विद्याके फल भिन्न हैं। सृष्टिविद्यासे ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुव्यवस्था, इस जगत्‌में सुखलाभकी समृद्धि, उपभोगके साधनोंकी विपुलता प्राप्त होती है। जिस को अभ्युदय कहा जाता है वह सृष्टिविद्यासे प्राप्त होता है। इस जगत्‌में सुखपूर्वक रहनेके लिए जिन जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे सब साधन इससे मिलते हैं। इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न फल इन दोनों विद्याओंके हैं। इनमेंसे प्रत्येक विद्याके फलोंमें बहुत भारी प्रलोभन है। इससे साधारण मनुष्य उन प्रलोभनोंमें

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

३४ इति धीराणां शुश्रुम	ऐसा हम धीरोदात्त लोगोंसे सुनते आये हैं।
ये नः तत् विचचक्षिरे।	जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश दिया।

फस जाता है। जगत् विद्यासे ऐहिक भोगके साधन बढानेसे ऐहिक ऐश्वर्य बढता है, इसलिए जो साधारण मनुष्य इस सृष्टिविद्याके पीछे लगता है, वह अपने भोग बढाता है और वह प्रलोभनमें फसता जाता है और उसे वास्तविक कल्याणका मार्ग दीखता नहीं। इसी प्रकार जो आत्मज्ञानमें लीन हो जाता है, उसे उससे विशेष शांति मिलती है और वह और ज्यादा उसमें रमता जाता है और संसारमें रहनेके लिए अर्थात् जीवन व्यतीत करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक साधनको जुटानेका काम भी छोड देता है और अत एव धीमे धीमे उसकी इस लोककी यात्रा भी चलनी कठिन हो जाती है। यदि तो उसकी औरोंने सहायता की तो तो उसे कष्ट नहीं होता, पर न की तो इस लोककी यात्रा चलनी भी कठिन हो जाती है। दोनों ओर ये ऐसे दो प्रलोभन है। उन प्रलोभनोंका मोह हो जानेसे दोनोंही ओर ये दो भय हैं। अतः दोनों ओरके प्रलोभनोंमें न फसते हुए समतोल वृत्ति रखते हुए दोनोंही विद्याओंसे लाभ लेनेवाला जो ज्ञानी है, वही

(३४) सच्चा 'धीर' वृत्तिवाला मनुष्य है। लाभ होनेपर जो उन्मत्त होकर किंकर्तव्य विमूढ नहीं होता और हानि होनेपर भी खिन्न न होता हुआ जो कर्तव्यसे नहीं गिरता उसे 'धीर' कहते हैं। मनुष्यके सामने सदा दो मार्ग आते हैं। पहिला 'श्रेयमार्ग' इससे जो प्रथम कष्ट सहन करता है वह अन्तमें कल्याण प्राप्त करता है। और दूसरा 'प्रेयमार्ग' जो प्रथम सुख अनुभव करता है पर अंतमें भयंकर आपत्ति भोगता है। इस विषयमें 'कठ उपनिषद्' में कहा है- "*श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते* ॥ कठ उ. १।२।२" अर्थात् श्रेय और प्रेय ये दो मार्ग

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

३५ यः विद्यां च अविद्यां च तत् उभयं सह वेद ।	जो आत्मज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान इन दोनोंको एकत्र (उपयुक्त) जानता है, (वह)
३६ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा	प्रकृतिविज्ञानसे मृत्युको दूर करके
३७ विद्यया अमृतं अश्नुते ।	आत्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करता है ।

मनुष्यके पास आते हैं उनमेसे श्रेय मार्गका स्वीकार धीर लोक करते हैं और प्रेय मार्गको मन्दबुद्धिवाले पसंद करते हैं और अन्तमें फसते हैं । जो श्रेय मार्गसे जाता है वह 'धीर' है, इस धीर वृत्तिके मनुष्यको इन दोनों विद्याओंसे अपना सच्चा कल्याण किस प्रकारसे प्राप्त होता है यह अगले मन्त्रमें देखो—

(३५) "विद्या और अविद्या" = आत्माका ज्ञान और सृष्टिका विज्ञान ये दो प्रकारकी विद्याएं मनुष्यकी उन्नतिके लिए समान उपयोगी हैं। आत्मविद्यासे आत्मिक बल बढ़ता है, शान्ति मिलती है तथा मनका समाधान होता है । इसी प्रकार सृष्टिकी विद्यासे ऐहिक उत्कर्षके साधन प्राप्त होते हैं । इस रीतिसे इन दोनों विद्याओंसे मनुष्यकी वास्तविक उन्नति होती है। यह बात जिसकी समझमें आगई है वह मनुष्य,

(३६) 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' = प्रकृतिकी विद्यासे, पंच महाभूतोंके ज्ञानसे, सृष्टिके शास्त्रोंकी सहायतासे मृत्युको दूर करता है। मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु दुःख, व्यवहारमें दैनिक कार्योंमें होनेवाली रुकावटें । ये रुकावटें ज्यों ज्यों सृष्टि विद्यासे विविध साधन तैयार होंगे, ज्यों ज्यों अन्न तथा पेय वस्तुका निर्माण होता जाएगा, इसी प्रकार ज्यों ज्यों उपभोगके पदार्थ निर्माण होते जाएंगे त्यों त्यों उनकी सहायतासे दूर होती जाएंगी, और इन साधनोंसे इस लोकमें दुःख कम करनेके बाद,

(३७) 'विद्यया अमृतं अश्नुते' आत्मविद्यासे अमरता, मोक्ष अथवा

(८) कर्म-क्षेत्र ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।

३८ ये असंभूतिं उपासते	जो असंघभावकी (ही केवल) उपासना करते हैं (वे)
अन्धं तमः प्रविशन्ति ।	गाढ अंधकारमें जाते हैं ।

कैवल्य प्राप्त होगा । यह अन्तिम साध्य है । इसी अंतिम साध्यको मनुष्यने प्राप्त करना है। परन्तु केवल इनमेसे एकही साधन करूंगा और अन्य कुछ भी नही करूंगा ऐसा कहना योग्य नही है। अतः मनुष्य सृष्टिविद्या सीखकर अपनी यहाकी जीवनयात्रा सुखमय करे और आत्मविद्यासे अपने पारमार्थिक परम कल्याणको सिद्ध करे । [प्रथम मंत्रमे ' जगत्यां जगत् ' जगतीमे वर्तमान जगत-ऐसा शब्दप्रयोग है । ' जगत् ' के समुदायको ' जगती ' कहते हैं । ' जगत् ' अर्थात् एक पदार्थ और ' जगती ' उनका समुदाय है। ' व्यक्ति और समुदाय ' ऐसा यह जगत् है । एक पदार्थ और उसकी जाति ऐसी जगत्में स्थिति है । इसीको ' व्यष्टि और समष्टि ' ऐसा कहते है । ऐसी स्थिति होनेसे व्यक्तिको समाजके लिये और समाजको व्यक्तिके लिये कुछ कर्तव्य करने आवश्यक हैं । क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेसे उस जैसे अपने कर्तव्य करने होते हैं उसी प्रकार जिस समाजका वह अंश है उसके लिये भी इसे कुछ कार्य करने पडते हं । इस प्रकार ' व्यक्ति और समाज ' ये मनुष्यके ' कर्म क्षेत्र ' हैं । इसी संबन्धका उपदेश " संभूति और असंभूति " प्रकरणमें कहा है। इसका विचार अब देखिए—]

(३८) ' संभूति और असंभूति ' = (सं) एक होकर (भूति) होना, रहना, उत्कर्षके लिये प्रयत्न करना, ऐश्वर्य प्राप्त करना; (सं-भूति) संघ बनाकर रहना, सहकार्य करके ऐश्वर्य वृद्धिके लिए प्रयत्न करना,' संभूय समुत्थान ' = सहकारितासे व्यवहार करना, मिलकर हमला करना, संघ बनाकर सघशक्तिसे चलना, सहकारी संस्था स्थापन करके उन्नतिके लिए प्रयत्न

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ १२ ॥

३९ ते ततः भूयः इव तमः ये उ संभूत्यां रताः ।	वे उनसे मानो अधिक अंधकार-में जाते हैं, जो (केवल) संघभावमें ही रमते हैं ।

करना । ' सं+भू ' इस धातुका अर्थ एक होकर रहना, संघ बनाना, एकत्र करके आगे बढाना, ऐसा है । ' संभूतिः ' = संघ, संघात, समाज, संगठित समाज । विभक्तोंकी विभिन्नता दूर करके उनका संगठन करना, भिन्न भिन्न प्राकृतिक परमाणुओंको एकत्रित करके उनसे सृष्टिरूप संगठित कार्य करना, भिन्न भिन्न व्यक्तिओंका संगठन करके उनका प्रबल संघ बनाना; जाति, राष्ट्र और राष्ट्रसंघ बनाना, ' अ+संभूतिः ' = असंघटित अवस्था । उपरोक्त प्रकारका संगठन न होनेपर जो स्थिति होती है वह । व्यक्तिकी स्थिति, वैयक्तिक सत्ता, ये इस शब्दके मौलिक अर्थ हैं ।

(३८) ' असम्भूतिके उपासक ' = जो असंघभावनाके-व्यक्ति सत्ताके उपासक, वैयक्तिक, स्वातंत्र्यकाही केवल आदर करनेवाले हैं, वे अंधकारमें जाते हैं । जो अपना संगठन थोडा भी न करते हुए केवल व्यक्तिकीही उन्नति करते हैं, उनमें संघ शक्तिके न बढनेसे संघबलसे होनेवाले कार्य करनेके लिए वे सर्वथा अयोग्य होते हैं और इस कारण वे अवनत होते जाते हैं, क्योंकि मनुष्य संघमेंही उन्नत होनेवाला प्राणी है ।

(३९) ' संभूतिमें रमण करनेवाले ' = केवल संघभावकेही पूजक या केवल संघशक्ति बढानेके लिए व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट करनेवाले जो हैं, वे "केवल संघसत्तावादी" भी अवनत होते हैं, क्योंकि इनके कार्यक्रममें व्यक्ति-स्वातंत्र्यको स्थान नहीं रहता और प्रत्येक व्यक्ति संघके नियमोंसे जकडा जानेसे धीरे धीरे उन्हें परतंत्र होनेका अभ्यास हो जाता है । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें परतंत्रता स्थिर होती गई तो व्यक्तिस्वातंत्र्यसे होनेवाली सब उन्नतियां बन्द हो जाती हैं । और अन्ततो गत्वा उस राष्ट्रकाही क्षय हो जाता है । अत्यधिक संघसत्तावादियोंके बहुमतके कारण राष्ट्रमें सब लोगोंकी ऐसी अवनति होती है ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

४० संभवात् अन्यत् एव आहुः।	संघका (फल) भिन्नही (है ऐसा) कहते हैं, (और)
४१ असंभवात् अन्यत् आहुः।	असंघभावका (फल) भिन्नही (है ऐसा) कहते हैं।

(४०) संभव = (संभूति) " = एक होकर रहना संघभावसे समाज बनाकर संघशक्तिको बढाना। 'संभवात् अन्यत्' = संघमे रहनेसे एक विलक्षण फल मिलता है। 'संघ-सत्ता-वाद' का फल भिन्न है। अपना संगठन करके रहनेवालोंमें संघशक्तिका अद्‌भुत बल बढता है। संघशक्तिसे जो समाज सुसंगठित होता है वह जगतमे विजयी होता है। थोडेसे भी लोक संघशक्तिसे विलक्षण कर्म करनेमे समर्थ होते हैं। यह इस संघसत्तावादमें बडाभारी प्रलोभन है।

(४१) ' अ+संभव =(असंभूति) '= असंघभाव अर्थात् व्यक्ति सत्तावाद, प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न सत्तावाला है, प्रत्येक व्यक्तिको अपनी यथा संभव उन्नति करनी चाहिए और सुधार करना चाहिए और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हो तो सब जनता स्वयही उन्नत हो जाएगी। अतः व्यक्तिको समाजके नियमोंसे बांधकर संघ बनानेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा, जो मानते हैं वे ' व्यक्ति सत्तावादी लोक ' हैं। इनके मतानुसार चलनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको उसकी इच्छानुसार पराकाष्ठातक उन्नति करनेके लिए पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं, जिससे कईयोंके वैयक्तिक गुण बढ जाते हैं। कारण इस मनसे आदर्श व्यक्ति तैयार हो सकता है। इस व्यक्ति-सत्तावादमें यह प्रलोभन है। [समाजसत्तावादसे संघशक्तिके निर्माण होनेका लाभ यद्यपि है तथापि व्यक्ति भी समाजरूपी यंत्रका एक अंश होनेसे वह क्रमशः परतंत्र होता जाता है जिससे वैयक्तिक उन्नति बंद हो जाती है यह इसमें हानि है। इसके विरुद्ध

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

४२ इति धीराणां शुश्रुम ये नः तत् विचचक्षिरे ।	ऐसा धीरोदात्त धीरोंसे सुनते आये हैं, जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश किया ।
४३ यः संभूतिं च विनाशं च तत् उभयं सह वेद ।	जो संघभाव और असंघभाव इन दोनोंको एकत्र (उपयोगी) जानता है, (वह)

व्यक्तिसत्तावादमें वैयक्तिक गुण विकसित होते हैं, पर संघशक्ति न बढनेसे हानि होती है। अतः दोनों मतोंका सम दृष्टिसे विचार करके दोनोंही मतोंमेंसे उत्तम बातको अपनाकर अपना मार्ग जो सुधारता है वह सच्चा ' धीर ' है]।

(४२) ऐसे ' धीर ' पुरुषोंको इन दोनो मार्गोंमें कुछ विलक्षण गुण दीखते हैं, जिससे ये लोग दोनों ही मार्गोंमेंसे गुण लेते तथा दोष छोडते हुए अपने पुरुषार्थसे अपने परम कल्याणको प्राप्त कर लेते हैं। ये किस प्रकार अपना कल्याण साधते हैं यह अगले मंत्रमें दर्शाया है उस मंत्रका उत्तम विचार अब एकाग्रतापूर्वक देखिए—

(४३) 'संभूति'=संघशक्ति; संघनिष्ठा, समाजनिष्ठा, राष्ट्रनिष्ठा, समाजसत्तावाद-निष्ठा, ये इसके भाव हैं'। संघशक्तिसे क्या लाभ है और उसके बिना क्या क्या हानियां होती हैं यह भी पिछली टिप्पणीमें दिखाया है। इस मंत्रमें दोनोंमेंसे हानिको दूर करके दोनोंसे लाभ कैसे लेना यह दिखाया है। "विनाश" यह शब्द इस मंत्रमें 'असंभूति'के लिए आया है। 'असंभूति' का अर्थ ' संघसत्ता ' की विरोधी ' व्यक्तिसत्ता ' है। इस वैयक्तिक सत्ताके लिए इस मंत्रमें ' विनाश ' शब्द प्रयुक्त किया गया है। 'विनाश' शब्दके दो अर्थ हैं— [१] ' विगतः नाशः यस्मात् ' = जिसका नाश नहीं

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

४४ विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा	असंघभावसे मृत्युको दूर करके,
४५ संभूत्या अमृतं अश्नुते ।	संघभावसे अमरत्व प्राप्त करता है।

होना ऐसा; अथवा (२) विशेषेण नाशः '=विशेषनाश। ये दोनो परस्पर विरोधी अर्थ इस शब्दमे हैं। ' व्यक्तिके मरते रहनेपर भी संघ अमर रहता है ' यह नियम हम ससारमे देखते हैं। प्रत्येक मनुष्य मरता है, पर सघ दृष्टिसे समाज सदा जीवित रहता है, इसलिए—

(४४-४५) सघभावसे " संभूत्या अमृतं अश्नुते " अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है और यदि सघ टूट कर उसका प्रत्येक घटक भिन्न भिन्न हो गया और उनकी सघशक्ति नष्ट हो गई, तो एक एक व्यक्ति थोडेही समयमे नष्ट हो जायगी। संघका विभाग करते करते अतमें ' एक व्यक्ति ' पर आकर ठहर जाना पडता है। इससे आगे विभाग नही हो सकता। इसका इससे आगे और विभाग नही हो सकता इसलिए व्यक्तिको ' अविभाज्य ' अर्थात् ' उससे आगे विभाग करना असंभव ' ऐसा कहा जाता है। इस व्यक्तिके लिए ' अह ' [अ+हं=अ+हन्+अ+हा=जिसका आगे हनन नही होना, जिसका इससे आगे नाश नही होना, ऐसा] यह शब्द प्रयुक्त होता है। " अवि-भाज्यता" विभागकी दृष्टिसे व्यक्तिका इससे आगे होना सभव नही। व्यक्तिको स्वकीय सत्ता स्थिर रखनेके लिए, वह अपमृत्युसे न मरे और अन्य कष्ट भी वह न भोगे, इसलिए वैयक्तिक स्वास्थ्य सरक्षणके कर्म व्यक्तिको करने पडते हैं। उन्हें करता हुआ व्यक्ति ' मृत्यु तीर्त्वा '=अपमृत्युसे अपना बचाव कर सकता है; और ' संभूत्या अमृतं अश्नुते '=सघशक्तिसे अमर हो सकता है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठा और सघनिष्ठा इन दोनोंसे होनेवाली हानियोंको दूर करके दोनोंसे मनुष्य लाभ उठा सकता है यह इस मत्रका आशय है। सघ पंच-

(९) सत्यधर्मका दर्शन ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

४६ हिरण्मयेन पात्रेण	सोनके पात्रसे
सत्यस्य मुखं अपिहितम्	सत्यका मुख ढका हुआ है ।

मुखी परमेश्वरही है। इसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद ये पांच अंग हैं। संगठित संघके विषयमें ऐसी एकात्मता रखते हुए उसकी आत्मशक्ति अभेद्य ऐक्यसे सुदृढ करनेपर प्रत्येक राष्ट्रमें संघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहनेपर भी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी संघके लिए आत्मसमर्पण रूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करता हुआ अर्थात् स्वतः संघरूप-विश्वात्म-रूप बनता हुआ अमरत्व प्राप्त कर सकेगा। मनुष्योंका 'कर्मक्षेत्र' इन तीन मन्त्रोंने दर्शाया है। [वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें ये तीन मंत्र पहिले तथा विद्या अविद्याके बादमें हैं।] [सब आत्मोन्नति अपरिग्रहवृत्तिसे होती है। परिग्रहका अर्थ है अपना सुख बढानेके लिए सुख साधनोंको अपने पास इकट्ठा करना। यही सुवर्णका प्रलोभन है। इसके नीचे सब धर्मविषय दब जाते हैं, इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मको जान नहीं सकता। इस प्रलो-भनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मन्त्रमें कहा है—

(४६) 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुख अपिहितम्' = सुवर्णके चमकीले पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है। सोनेके नीचे सत्य छिपा पड़ा है यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है। अपराध करनेपर भी अधिकारियोंको घूस देकर उसे छिपाया जा सकता है। घूस न लेते हुए कर्तव्य-भ्रष्ट न होनेवाले बहुत थोडे हैं। घूस लुच्चाई आदिसे सत्यका मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनी व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

४७ हे पूषन् !	हे पोषक !
सत्यधर्माय दृष्टये	सत्यका धर्म देखनेके लिए
तत् त्वं अपावृणु ।	उसे तू खोल दे।

(४७) " सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वं अपावृणु "=सत्यधर्मके दर्शन करनेके लिए उस ढक्कनको तू दूर कर। सुवर्णका ढक्कन दूर होनेके बाद सत्यधर्म दीखने लगेगा। व्यवहारमें घूसखोरीकी ओर ध्यान न देनेवाले अधिकारीही स्वकर्ममें दक्ष रहकर सत्यकी खोज कर सकनेमें समर्थ होते हैं। इसका कारण यह है कि वे इस सुवर्णपात्रको एक ओर करते हैं। इस मन्त्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। '**सत्यधर्मका पालन करनेकी इच्छा हो तो सुवर्णका लोभ छोडना चाहिए**'। यह सुवर्ण नियम वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, *धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी सर्वथा सत्य है।* '**राष्ट्रधर्म पालन करना हो तो सुवर्णका लोभ त्यागना चाहिए।**' सुवर्णके लोभी मनुष्योंसे कितना राष्ट्रका नाश होता है यह इतिहास बता रहा है। इस मन्त्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। इसका वास्तवमें अर्थ ऐसा है—

(४६-४७)—परमात्मा ' सत्य-स्वरूप है। ' उसपर इस सृष्टिका चमकीला आच्छादन पडा हुआ है। उसको विना दूर किए उस सत्यस्वरूप परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। उसको दर्शन करनेवालोंको इस सृष्टिके मोहसे दूर होना चाहिए। जिसे अपनी आत्माकी शक्ति बढानी हो उसे प्राकृतिक मोहजालमें फसना नहीं चाहिए।

[वाजसनेयी-माध्यंदिन संहितामें इस मन्त्रका उत्तरार्ध नहीं है, और इसके स्थानमें '**योऽसावादित्ये०**' यह मंत्र है। इसका अर्थ मन्त्र० १६ की टिप्पणीमें देखो]

(९) सत्यधर्मका दर्शन ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

४६ हिरण्मयेन पात्रेण	सोनेके पात्रसे
सत्यस्य मुखं अपिहितम्	सत्यका मुख ढका हुआ है ।

मुखी परमेश्वरही है । इसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद ये पांच अंग हैं। संगठित संघके विषयमें ऐसी एकात्मता रखते हुए उसकी आत्मशक्ति अभेद्य ऐक्यसे सुदृढ करनेपर प्रत्येक राष्ट्रमें संघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहनेपर भी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी संघके लिए आत्मसमर्पण रूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करता हुआ अर्थात स्वतः सर्वरूप-विश्वात्म-रूप बनता हुआ अमरत्व प्राप्त कर सकेगा। मनुष्योंका 'कर्मक्षेत्र' इन तीन मन्त्रोंने दर्शाया है। [वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें ये तीन मन्त्र पहिले तथा विद्या अविद्याके बादमें हैं।] [सब आत्मोन्नति अपरिग्रहवृत्तिसे होती है। परिग्रहका अर्थ है अपना सुख बढानेके लिए सुख साधनोंको अपने पास इकट्ठा करना। यही सुवर्णका प्रलोभन है। इसके नीचे सब धर्मनियम दब जाते हैं इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मको जान नहीं सकता। इस प्रलो भनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मन्त्रमें कहा है—

(४६) 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखं अपिहितम्' = सुवर्णके चमकीले पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है। सोनेके नीचे सत्य छिपा पडा है यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है। अपराध करनेपर भी अधिकारियोंको घूस देकर उसे छिपाया जा सकता है। घूस न लेते हुए कर्तव्य-भ्रष्ट न होनेवाले बहुत थोडे हैं। घूस लुच्चाई आदिसे सत्यपर मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनी व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

४७ हे पूषन् !	हे पोषक !
सत्यधर्माय दृष्टये	सत्यका धर्म देखनेके लिए
तत् त्वं अपावृणु ।	उसे तू खोल दे ।

(४७) " सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वं अपावृणु "=सत्यधर्मके दर्शन करनेके लिए उस ढक्कनको तू दूर कर । सुवर्णका ढक्कन दूर होनेके बाद सत्यधर्म दीखने लगेगा । व्यवहारमे घूसखोरीकी ओर ध्यान न देनेवाले अधिकारीही स्वकर्ममे दक्ष रहकर सत्यकी खोज कर सकनेमे समर्थ होते हैं । इसका कारण यह है कि वे इस सुवर्णपात्रको एक ओर करते हैं । इस मन्त्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ । '**सत्यधर्मका पालन करनेकी इच्छा हो तो सुवर्णका लोभ छोडना चाहिए**' । यह सुवर्ण नियम वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी सर्वथा सत्य है । '**राष्ट्रधर्म पालन करना हो तो सुवर्णका लोभ त्यागना चाहिए**।' सुवर्णके लोभी मनुष्योंसे कितना राष्ट्रका नाश होता है यह इतिहास बता रहा है । इस मन्त्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ । इसका वास्तवमे अर्थ ऐसा है—

(४६-४७)—परमात्मा '**सत्य-स्वरूप है**।' उसपर इस सृष्टिका चमकीला आच्छादन पडा हुआ है । उसको विना दूर किए उस सत्यस्वरूप परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते । उसको दर्शन करनेवालोको इस सृष्टिके मोहसे दूर होना चाहिए । जिसे अपनी आत्माकी शक्ति बढानी हो उसे प्राकृतिक मोहजालमे फसना नही चाहिए ।

[वाजसनेयी-माध्यंदिन संहितामे इस मन्त्रका उत्तरार्ध नही है, और इसके स्थानमे 'योऽसावादित्ये०' यह मंत्र है । इसका अर्थ मन्त्र० १६ की टिप्पणीमें देखो]

(१०) उपासना।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।

४८ पूषन्, एक ऋषे,	हे पोषक ! एक द्रष्टा !
यम, सूर्य	नियामक ! तेजप्रदाता !
प्राजापत्य !	प्रजापालक !
४९ रश्मीन् व्यूह,	(तेरी) किरणोंको एकत्र कर,
समूह !	और उनको एक ओर कर ।
५० यत् ते कल्याणतमं	जो तेरा अत्यंत कल्याणकारी ।
तेजो रूपं,	तेजोमय रूप है,
तत् ते पश्यामि ।	वह तेरा रूप मैं देखता हूं ।

[४८] परमात्मा ' पूषन् '=सबका पोषक है। वह ' एक ' है और वह ' ऋषि '=ज्ञाता, ज्ञानी, सर्वज्ञ और अतीन्द्रियार्थदर्शी है। वही ' यम '= सबका नियामक, सबको अपने नियमोंमें रखनेवाला, ' सूर्य '=तेज देनेवाला, प्रकाशित करनेवाला, और ' प्राजापत्य '=जो प्रजाओंका पालन करनेवाला है वह प्रजापति। प्रजापतिसे उत्पन्न होनेवाले प्राजापत्य अर्थात् उसके सामर्थ्य। इन सब सामर्थ्योंसे युक्त यह देव है। इस देवको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे इस मंत्रमें पुकारा है। ' हे पोषक, नियामक तेजस्वी, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञदेव ! मेरी सहायता कर।

[४९] ' रश्मीन् व्यूह समूह '=किरणोंको इकट्ठा करके एक ओर कर। हे देव ! इस जगत्की इस चकचकाहटके कारण मुझे तेरा रूप दीखता नहीं, तूही मेरे पर दया करके मेरी आखोंको चका चौंध करनेवाले ये अपने तेज दूर कर; तूने ऐसा किया कि—

[५०] ' ते कल्याणतमं तेजो रूपं पश्यामि '=तेरे अत्यन्त कल्याण-मय तेजस्वी स्वरूपको मैं देखता हूं। हे देव ! तू ही कृपा कर और अपना रूप

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

(११) आत्म-परीक्षण ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तᳬ शरीरम् ।

५१ यः असौ असौ पुरुषः सः अहं अस्मि ।	जो यह प्राणोंमें पुरुष है वह मैं हूं ।
५२ वायुः अन इलं अमृतम् ।	प्राण अपार्थिव अमृत है ।
५३ अथ इदं शरीरं भस्मान्तम्	और यह शरीर अन्तमें भस्म होनेवाला है ।

दिखा। तेरी कृपाके विना मगलमय और कल्याणमय रूप मुझे दीख नहीं सकेगा ।

[५१] ' य. असौ असौ पुरुषः ' = जो यह तेरे [असौ-असुमे] प्राणशक्तिके आधारसे रहनेवाला और [पुरुषः = पुरि+वसति] इस शरीररूपी नगरीमें रहनेवाला, देह धारण कर अभ्युदय और नि श्रेयसकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला, शरीर धारण कर परम पुरुषार्थ करनेकी इच्छावाला जो तेरा भक्त है ' सः अहं अस्मि ' = वही मैं हू। मैं तेरा एकनिष्ठ भक्त हूं। [इस मत्रके पहिले दो भाग वाजसनेयी माध्यदिन सहितामे नहीं हैं। मत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है- " योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओम् खं ब्रह्म ॥१७॥ " यह मत्र भाग वहा १७ वा है और ' हिरण्मयेन० ' इस मत्रका उत्तरार्ध है। इसका अर्थ- " यः असौ] जो यह [आदित्ये पुरुषः] आदित्यमें पुरुष है, (सः असौ अहम् वह यह मैं हू, [ओम् खं ब्रह्म] ब्रह्म आकाशकी तरह व्यापक ओंकारद्वारा दिखाया जाता है।"] इस मत्रके कहनेके अनुसार भक्तको परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए ।

[५२] हे मनुष्य ! यदि तुझे उन्नत होना है तो तू यह लक्ष्यमें रख कि [वायु.] यह हमारा प्राण [अन्+इलं अ+मृतं] अपार्थिव अमृतरूपी प्रचण्ड शक्तिवाला है।

[५३] और [इदं शरीरं भस्म+अन्त] यह शरीर अंतमें भस्म होनेवाला

ओ३म् क्रतो स्मर, कृतँ स्मर, क्रतो स्मर, कृतँ स्मर ॥१७॥

६ ५४ क्रतो ! ओं स्मर ।	हे कर्मकर्ता पुरुष ! सर्वरक्षक आत्माका ध्यान कर ।
कृतं स्मर	किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ।
क्रतो स्मर	हे कर्म करनेवाले पुरुष ! स्मरण कर
कृतं स्मर	किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ।

है । अत मर जानेवाले शरीरकी अपेक्षा अमर प्राणशक्तिकी आराधना करनी उचित है । मरनेवाले शरीरमें अमर प्राणशक्ति है और उस प्राणशक्तिके अन्दर तू (असौ पुरुषः=जीव-आत्मा) है । तेरी उन्नतिके लिए ये बाहिरके सर्व साधन हैं । इन साधनोंकी सहायतासे तुझे अपने अमरपनका अनुभव लेना है । "इन अनित्य साधनोंके योगसे तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है । " इसलिये—

[५५] हे " क्रतो " = कर्म करनेवाले पुरुष ! कर्म करना जिसका स्वभाव है ऐसे हे मनुष्य ! ' ओं स्मर '=[अवति इति ओम्] उस सर्व-रक्षक परमात्माका ध्यान कर । उसके गुणोंका चिन्तन कर । उसके कल्याणमय गुणोंको निदिध्यासनसे अपने आत्मबुद्धिमनमें नित्यप्रति बढा । ' कृतं स्मर '=रोज प्रातः-साय तूने जो कोई कर्म किए हो उनका स्मरण कर । ध्यानपूर्वक विचार करके देख कि तूने जो कोई कर्म किए हैं वे आत्माकी उन्नति करनेवाले हैं अथवा अवनति । दिनभर किए हुए कर्मोंका सायंकालको तथा रातको किए हुए कर्मोंका निरीक्षण प्रातःकाल कर । इस प्रकार अपने आचरणोंकी परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं निरीक्षक बन, जिससे कि तेरी कहां भूल हो रही है और कहां तुझे वासनाओंमें वश करना चाहिए, यह अपने आप तेरे ध्यानमें आएगा । " हमें स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए । जिससे अपनी अवनति हो ऐसे आचरण हमें कभी करने नहीं चाहिए । "

(वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें यह मंत्र १५ वां है । और इसके द्वितीयार्धमें " क्लिबे स्मर " ऐसा अधिक पाठ है । ' क्लिव्, क्लिप्, क्लृप् '

(१२) प्रार्थना।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

५५ अग्ने! अस्मान् सुपथा राये नय।	हे प्रकाशक! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयकी ले चल।
५६ देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान्।	हे देव! तू सब हमारे कर्मोंको जानता है।

का अर्थ 'समर्थ होना, योग्य होना' ऐसा है। अत 'क्लिये स्मर' = अर्थात् 'अपने सामर्थ्यकी वृद्धिके लिए यह स्मरण कर।' अपने आप समर्थ होनेके लिए ऊपर कहे अनुसार 'ईश-स्मरण कर और स्वय कृत कर्मोका स्मरण कर।' *अपने उद्धारके लिए इस श्रेष्ठ मार्गका अवलम्बन कर।*]

प्रतिदिन हम क्या करते हैं इसका निरीक्षण करना, यह आत्मपरीक्षण आत्मोन्नतिके लिए अत्यत सहायक है। इसके विना किसी भी प्रकारकी उन्नति होना, सभव नहीं। साधकके शरीरका पोषण भी इस परीक्षणके विना नहीं होगा। अत हमारी आध्यात्मिक उन्नति आत्मपरीक्षणके विना नही होगा।

[५५] हे '*अग्ने* '=*प्रकाश देनेवाले ईश्वर* ! '*अस्मान् सुपथा राये नय*'=हमे अच्छे मार्गसे अभ्युदयको प्राप्त कर। हममे कुमार्गसे जानेकी बुद्धि कभी न हो। धन मिले, चाहे न मिले, पर हमारे आचरणका मार्ग शुद्धही हो। हे देव! तू—

[५६] 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'=हमारे सब कर्म जानता है। क्योंकि *तू सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ है और सर्वत्र है*। इस कारण हम जो कुछ करते हैं चाहे वह कितना भी चुपकेसे छिपकर किया गया हो, तो भी वह तुझे उसी समय पता लग जाता है। इतना ही नहीं, मनमे आया हुआ सकल्प भी तुझे विदित हो जाता है। ऐसी दशामे हम तेरेसे छिपकर कुछ भी नही कर सकते।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

५७ अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि ।	हमारे पाससे सब कुटिल पाप दूर कर।
५८ ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम ।	तेरी विशेष नमनपूर्वक स्तुति हम करते हैं ।

हमारे सब अच्छे बुरे कर्मोका तुझे पता होनेसे जिस मार्गसे जानेसे हमारा उद्धार हो, उस श्रेष्ठ और शुद्ध मार्गसे तू हमें ले चल। हमारेसे कुटिलता और पापभाव होंगे तो वे,

[५७] ' जुहुराणं एनः अस्मत् युयोधि = कुटिलता और पाप, हमारेसे सर्वदाके लिए दूर कर । इन पापोके साथ युद्ध करके उन्हें दूर करनेके लिये हमे शक्ति दे ।

[५८] इस तेरी कृपाके लिए हम तुझे ' नमः विधेम ' = नमस्कार करते हैं। तुझे देनेके लिए हमारे पास नमस्कारके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। हे ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार, और हमारा उद्धार कर ।

" ओम् । पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओम् । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥ "

परमेश्वरका नाम-संकीर्तन



हमारे धार्मिक ग्रन्थोमे ईश्वरके नामोका सकीर्तन विशेष रूपसे करनेकी विधि है। वेदोमें ' अनेक नामोसे एकही सद्वस्तुके वर्णन हैं '। [ऋ० १।१६४।४६]। उपनिषदोमें भी ऐसाही है। इतिहास और पुराणोमें भी यह सकीर्तन भिन्न रीतिसे आया है। इस छोटीसी ईशोपनिषद्में भी पुन पुन. 'परमात्म-गुणवर्णन" आया है। ऐसा जहा तहा परमात्माके गुणोका सकीर्तन, क्यो किया है ? इस प्रश्नका विचार करना उपयुक्त है। इस सबन्धका मूल सिद्धान्त क्या है, उसे जानेके विना इस नाम सकीर्तनका महत्त्व समझमें आना कठिन है, इसलिए इस विषयमें सक्षेपसे दो शब्द यहा कहने हैं।

सबसे पहिले बहुतसा प्रास्ताविक ऊहापोह न करते हुए वैदिकधर्मका एक मूलतत्त्व यहा कहना चाहिए और वह यह है कि- " परमेश्वर सबका पिता है और हम सब उसके पुत्र हैं। " यह कल्पना इस नाम-सकीर्तनका मूल आधार है। मैं परमेश्वरका पुत्र हू और परमेश्वर मेरा पिता है, यह कल्पना मनमे स्थिर हो जानेके दूसरे ही क्षणमें दूसरी कल्पना मनमे आती है, और वह यह कि ' पुत्र उन्नत होते होते कभी न कभी अपने पिताके सदृश हो जाएगा, ' इस नियमानुसार परमेश्वरके भी पुत्र उन्नत होनेके मार्गमें हैं और वे कभी न कभी परमेश्वरके सदृश ' स्वतन्त्र [मुक्त] ' ' सत्-चिद्-आनन्द-स्वरूप ' होगे। इस विचारधारासे आगेका सिद्धान्त हमारे ध्यानमें आ सकेगा —

[१] परमेश्वर सबका परम पिता है।

[२] हम सब उसके अमृत पुत्र हैं।

[३] पिताके गुणधर्म अशरूपसे जन्मत पुत्रोमे होतेही हैं।

[४] पुत्रके गुणधर्म पूर्ण विकसित हुए कि वह अपने पिताके समान होता है।

[५] पुत्रके उन्नत होनेकी भी परम सीमा है, और कभी न कभी वह उन्नतिकी परम सीमा प्रत्येकको प्राप्त होगी ही।

जिन अंशोंमें 'पिता पुत्रके गुणधर्म' पितामें पूर्णत्वको पहुंचे हुए हैं और पुत्रमें अंशरूपसे हैं तो वे समानही हैं, उन अंशोंमें जो गुणबोधक नाम होंगे वे पिता पुत्रके एकसे ही होने चाहिए, इसमें संदेह नहीं। जैसे 'द्रष्टा [देखनेवाला], श्रोता [सुननेवाला]' इत्यादि नाम केवल गुणबोधक होनेसे, वे जैसे पिताके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं वैसे ही पुत्रके लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। यह जो व्यावहारिक अनुभव है वह वैसा ही इस परमार्थमें भी सत्य है और इसीलिए वेद, उपनिषद् तथा इतर धर्मग्रंथोंमें परमेश्वरके जो गुण-संकीर्तन किए हैं, वे यदि परमेश्वरका पूर्णतया वर्णन कर रहे हैं तो वे ही कभी न कभी इस जीवात्माके लिए भी लागू होंगे। जैसे परमेश्वर 'ज्ञाता' है, यह जैसे आज परमेश्वरका सत्य वर्णन है, वैसाही जब यह जीव 'ज्ञाता' होगा, तब उसका भी यही वर्णन होगा। इस समय भी देखिये कि-परमेश्वरकी 'विशाल ब्रह्माण्ड व्याप्ति' को तथा जीवके शरीरमें 'छोटेसे पिण्डमें व्याप्तिको' मनमें यदि न लाया जाए, तो 'ज्ञातृत्व शक्ति' दोनोंमें ही होनेसे जैसे 'ज्ञाता' शब्द पूर्णतया परमेश्वरके लिए लगता है, वैसेही वह अंशरूपसे जीवके लिए भी अवश्य ही लागू होता है। इससे पता चलता है कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके नामसंकीर्तनोंमें किए गए गुण-वर्णन जीवात्माको उन गुणोंके बढानेकी सूचना दे रहे हैं, और इसीलिए वे साधकको अत्यन्त सरल उन्नतिका मार्ग दर्शानेवाले हैं, यह निःसंदेह है।

'तेरा पिता शूर, वीर और धीर था, उसने इतिहासमें ये ये महत्त्वके कार्य किए' इत्यादि प्रकारके बडोंके वर्णन लडकोंके सुननेपर उनके अन्तःकरणोंमें 'हम भी उनके सदृश बनें' ऐसा भाव आना स्वाभाविक है। इस तरह हमारेमें

अपनी उन्नति करनेकी प्रेरणा नामसंकीर्तनसे मिलती है और वह जिस प्रकारसे होती है उसी प्रकारसे इन नामोंका स्मरण करते रहना चाहिए।

वेदोंमें जिन देवताओंका वर्णन है और उनमें जो परमेश्वरके वर्णन हैं, वे सब उपरोक्त कथनानुसार मनुष्यमें उन्नतिकी स्फूर्ति उत्पन्न करने तथा उसे उन्नतिके मार्गमें लगानेके लिए हैं। जैसे परमात्माका अंश यहांपर जीवरूपसे आया हुआ है, वैसेही अग्नि, वायु, सूर्य आदि तैंतीस देवता अंशरूपसे इस जीवात्माके साथ साथ शरीरमें आकर इन्द्रियों और अवयवोंमें बसे हुए हैं। इस-लिए चाहे किसी भी देवताका वर्णन हो तो वह हमारे शरीरमें स्थित अंशभूत देवताका भी सूक्ष्मरूपसे वर्णन है ही। वन जलानेवाले बड़े दावानलका वर्णन छोटीसी चिनगारीका भी अंशरूपसे है ही। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। इससे यह बात ध्यानमें आती है कि हमारे वेदादि धर्मग्रंथोंमें परमेश्वरका तथा इन देवताओंका वर्णन भी ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्तिका वर्णन होना हुआ, वही पिण्डव्यापक अल्पशक्तिका भी है और वह पिण्डमें उन उन अविकसित शक्तियोंको बढाकर पूर्ण करनेके लिए हमें आदेश दे रहा है। इस प्रत्येक वर्णनसे मनुष्यको बोध लेना और यथा संभव अपने आचरणमें उसे लाना है। इस बोधका कैसे पता चले इस बातको बतानेके लिए आगे तालिकामें उसको दर्शाया है, जिससे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। मूल वाक्य दर्शानेके लिए ऊपर मंत्राङ्क दिया है। अर्थात उस उस अङ्कवाले मंत्रका वह मूल वाक्य है, ऐसा समझना चाहिये—

परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध

परमात्माके वर्णन ।	मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध ।
(शान्ति मंत्र)	
१ अदः पूर्णम् । (यह ब्रह्म पूर्ण है)	१ मनुष्य पूर्ण बननेके लिए पुरुषार्थ करे । (इस जन्ममें कुछ विशेष नहीं तो किसी एक गुणमें पूर्णत्व संपादन करे ।)
२ ओम् । (यह रक्षक है)	२ आत्मसंरक्षणकी शक्ति शरीरमें लाओ और पीडा देनेवाले प्राणियोंसे पीडितोंका संरक्षण करो ।
(मंत्र १)	
३ ईशा इदं सर्वं वास्यम् । (ईश्वरसे यह सब बसनेयोग्य है । ईश्वर ईश होकर सर्वत्र बसा हुआ है)	३ अपनी शक्तिसे स्वामित्व संपादन करके जगत्में व्यवहार कर । पराधीन वृत्तिमें रहते हुए अपने दिन न बिता ।
(मंत्र ४)	
४ अन्-एजत् । (यह कांपता नहीं, यह चंचल नहीं)	४ किसीसे डरकर उसके सामने कांपे नहीं अर्थात् कभी किसीसे न डरे, चंचलपन छोड दे ।

५ एकम्। (वह एक, अद्वितीय है।)	५ जगत्‌में अद्वितीय बने, (किसी भी एक विद्यामें तो अवश्य अद्वितीय बने।)
६ मनसः जवीयः। (वह मनसे वेगवान् है)	६ अपना वेग बढावे, आलस्य दूर करे।
७ देवाः एनत् न आप्नुवन्। (देव उसे प्राप्त नहीं कर सकते वह देवोंके प्रयत्न करनेपर भी उनसे अप्राप्य है)	७ अपनी साधनायें दूसरे सहसा समझ लें ऐसे काम न करे। (अथवा स्वयं दूसरोंका संचालक बने, पर उनसे स्वयं न घेरा जाय ऐसे सुरक्षित स्थानपर रहे।)
८ पूर्वम्। (वह सबसे प्रथम, पूर्वसे है)	८ सबसे प्रथम स्वयं कार्य आरंभ करे। (इस काममें यह प्रथम है ऐसा कहावे।)
९ अर्षत्। (वह ज्ञानी अथवा स्फूर्ति देनेवाला है)	९ ज्ञान प्राप्त करे और जनतामें स्फूर्ति बढावे।
१० तिष्ठत्। (वह स्थिर है)	१० अपना आधार मजबूत करे। अपने स्थानपर स्थिर रहे। (युद्धमें अपना स्थान न छोडे)
११ तत् धावतः अन्यान् अत्येति। (वह दौडनेवाले दूसरोंके आगे जाता है)	११ सब स्पर्धा करनेवाले पीछे रह जावें और स्वयं उनसे आगे निकल जाए ऐसी अपनी तैयारी करे।

१२ तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति। (इसके आधारसे जीव कर्म धारण करते है)	१२ अपने आप स्वयं कर्म करे और दूसरोंसे कर्म करावे।

(मंत्र ५)

१३ तत् एजति तत् न एजति। (वह दूसरोंको चलाता है, पर स्वयं हिलता नहीं)	१३ स्वयं अपने स्थानपर स्थिर रहे और दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित करके उन्हें सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करावे।
१४ तत दूरे तत् उ अन्तिके। (यह अज्ञानीके लिए दूर तथा ज्ञानीके लिए समीप है)	१४ दुर्जनोंसे दूर रहे और सदा सज्जनोंके पास रहे।
१५ तत् सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च। (यह सबके अन्दर और बाहर है)	१५ अपनी अन्दरकी तथा बाहिरकी अवस्थाओंका निरीक्षण करे।

(मंत्र ६)

१६ सर्वाणि भूतानि आत्मनि, आत्मा च सर्व भूतेषु। (सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है)	१६ सब भूतोंको अपना आधार देखे और स्वयं सब भूतोंमें प्रिय होकर रहे।

मंत्र (७)

१७ आत्मा एव सर्वाणि भूतानि। (आत्माही सर्वभूत है)	१७ सब भूतोंको अपनी आत्माके समान देखे।

(मंत्र ८)

१८ सः परि-अगात्। (वह सर्वत्र गया हुआ है)	अपने सब कार्यक्षेत्रोंका निरीक्षण करे।
१९ अकायं, अस्नाविरम्। (वह देहरहित, स्नायुरहित है।	१९ शरीरकी स्थूल शक्तिको चलानेवाली आत्मिक शक्ति बढावे।
२० अव्रणम्। (वह व्रणरहित है)	२० व्रण, घाव आदि न होवें ऐसा आरोग्य प्राप्त करे।
२१ शुद्धं, शुक्रम्। (वह पवित्र और वीर्यवान् है)	२१ पवित्र और वीर्यवान् बने।
२२ अपापविद्धम्। (वह पापसे विद्ध हुआ हुआ नहीं है)	२२ पापसे विद्ध मत हो। (पाप मत कर)
२३ कविः। (वह अतीन्द्रियार्थदर्शी है)	२३ मनुष्य केवल स्थूलदर्शी न होता हुआ सूक्ष्मशक्तियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे।
२४ मनीषी। (वह मनका स्वामी है, विचारशील है)	२४ हमें मनका संयम करना चाहिए तथा विचारपूर्वक कर्तव्य करने चाहिए।
२५ परिभूः। (वह सबसे श्रेष्ठ अथवा विजयी है)	२५ अपनेको शत्रुके आधीन न करते हुए, जिससे विजय प्राप्त हो सके ऐसी अपनी शक्ति बढानी चाहिए।
२६ स्वयंभूः। (वह अपनी शक्तिसे स्थित है)	२६ अपनी शक्तिसे रहे, परावलम्बी न बने।

२७ याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्। (करनेयोग्य कार्य वह करता रहता है)	२७ कर्तव्य जैसे करने चाहिए। वैसे बिना भूल चूकके करता रहे।

(मंत्र १६)

२८ पूषा। (वह पोषक है)	२८ गरीब-असमर्थोंका पालन-पोषण करना चाहिए।
२९ एक ऋषिः। (वह एक ज्ञानी है)	२९ विशेष ज्ञान संपादन करे।
३० यमः। (वह नियामक है)	३० हम अपनी शक्तिपर प्रभुत्व प्राप्त करें, नियामक बनें।
३१ सूर्यः। (यह प्रकाशक है)	३१ दूसरोंको प्रकाशका सन्मार्ग दिखावे।
३२ प्राजापत्यः। (यह पालक शक्तिसे युक्त है)	३२ आश्रितोंका उत्तम रीतिसे पालन करे।
३३ कल्याणतमं रूपम्। (उसका रूप अत्यंत कल्याण करे। है)	३३ नित्य प्रसन्नचित्तसे व्यवहार करे।

(मंत्र १८)

३४ सुपथा राये नय (ति)। (यह उत्तम मार्गसे ऐश्वर्यके पास ले जाता है)	३४ स्वतः उत्तम मार्गसे ऐश्वर्य प्राप्त करे और दूसरोंको उत्तम मार्गसे उन्नतिको पहुंचाए।

३५ विश्वानि वयुनानि विद्वान् (वह सब कर्म जानता है)	३५ सब कर्तव्याकर्तव्य कर्मोंका योग्य ज्ञान प्राप्त करे।
३६ जुहुराणं एनः युध्यते। (वह कुटिलता और पापसे युद्ध करता है)	३६ कुटिलता और पापसे (सत्य-का पक्ष लेते हुए) युद्ध करके उनका पराभव करे)

सूचना।

यहां जो ईशोपनिषद्के मंत्रोंसे बोध दिया गया है, वह उस सूचक मन्त्रसे उतनाही मिलता है ऐसा किसीको भी यहां समझना नहीं चाहिए। मन्त्रका अर्थ मनमें समझकर उसका थोडा थोडा मनन करनेसे परमेश्वरके गुणोंका ज्ञान धीरे धीरे होने लगेगा। परमेश्वर इस विश्वव्यापक संसारमें जैसे प्रचण्ड कार्य अतुल स्वशक्तिसे कर रहा है वैसे थोडेसे कार्य हमें छोटेसे क्षेत्रमें करते हुए अपने पिताके समान बननेका प्रयत्न करना चाहिए।

येही कर्म मनुष्यको जन्मसे मृत्यु पर्यन्त करते हैं और इसी कर्म मार्गसे अपनी उन्नति साधनी है। परमेश्वरके गुणोंका ज्ञान जिससे जितना अधिक मनन होगा, उतना अधिक स्वकर्तव्योंका स्फुरण साधकको होगा, और इस मार्गसे चाते जाते साधकका स्वभाव भी वैसा बन जाएगा और ज्योंही साधकका स्वभाव वैसा बन गया अर्थात् वह स्वाभाविकतया अकृत्रिमतासे वैसे कर्म करने लग गया, कि वह साध्यके समीप समीप पहुंचने लगा ऐसा जाननेमें कोई दोष नहीं है। 'परमेश्वरके नाम तारते हैं' यह कैसे, यह इस विवेचनसे समझा जा सकता है। वेदमन्त्रोंमें ईश वर्णनका यह ऐसा उपयोग साधकके लिए है। इस प्रकार वेदमन्त्रोंका ज्ञानपूर्वक विचार करके बोध प्राप्त करनेसे 'वेदका एकाध सूक्त अथवा एक मन्त्र या आधा मन्त्र किंवा परमेश्वरका एक नाम भी मनुष्यके परम उत्कर्षके लिए पर्याप्त है,' ऐसा जो समझा जाता है। वह कितना यथार्थ है, यह पाठकोंके ध्यानमें आएगा। अब हम ईशोप-निषद्का थोडीसी भिन्न रीतिसे मनन करते हैं—

ईशोपनिषद्में वर्णित मनुष्यकी उन्नतिका मार्ग ।

(१) मनुष्यका साध्य।

मनुष्यका साध्य 'तीन शांति' स्थापना करना और उन तीन शान्तियोंका अनुभव लेना है। (१) वैयक्तिक शान्ति-शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें किसी भी प्रकारकी अशान्ति न रहे और यहां पूर्ण शान्ति स्थिर रहे, उसेही 'आध्यात्मिक शांति' कहते हैं। योगादि साधन इसी अनुभवके लिएही हैं। (२) सामाजिक शान्ति-समाजमें विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें शान्ति स्थापना करना और यह दूसरा साध्य मनुष्यके सन्मुख है। सब प्राणियोंके विषयमें प्रेम और दया भावके विचार और आचारको बढानेसे भी यह शान्ति स्थापित हो सकती है। इसेही आधिभौतिक शान्ति कहते हैं। (३) जागतिक शान्ति- सब चराचर जगत्में शान्ति और समताका स्थापन करना यह अन्तिम साध्य है। इसे 'आधिदैविक शान्ति' कहते हैं। प्रत्येक मनुष्यको ये त्रिविध शान्तिके साध्य साधने हैं। इन कर्तव्योंका स्मरण प्रत्येकको करानेके लिए 'शान्ति शान्ति शान्ति' इस प्रकार तीनवार उच्चारण किया जाता है। (देखो शान्ति मंत्र)

(२) साधन ।

उपरोक्त तीन साध्योंको साधनेके लिए 'ज्ञान और कर्म' ये दो साधन हैं। इन साधनोंको प्रयोगमें लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको स्थापित किया गया है। ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और कर्मेन्द्रियोंसे कर्म किए जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियोंके लिए 'ज्ञान-क्षेत्र' और कर्मेन्द्रियोंके लिए 'कर्म-क्षेत्र' है। जगत्में जाननेयोग्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानक्षेत्रकी व्याप्तिके अन्तर्गत है। पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और अनात्मा, ये दोही प्रकारके पदार्थ संसारमें हैं। अत इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर

लेना यह ज्ञान-क्षेत्रका साध्य है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस अन्तःकरण चतुष्टयसे यह ज्ञान प्राप्त करना है। ' **ईशा वास्य इदं** ' (मं १) 'ईश व्याप्त करता है इस सृष्टिको ' ऐसा जो प्रथम मंत्रमें कहा है उससे हमारा ज्ञानक्षेत्र व्यक्त हो रहा है। ' ईश ' शब्दसे ' आत्मा या परमात्मा ' और ' इदं ' शब्दसे ' सृष्टि, जगत् अथवा संसार ' का बोध होता है। मनुष्यको जो ज्ञान प्राप्त करना है वह इसी सम्बन्धमें है। अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंको प्राप्त करना आवश्यक है। सृष्टि विज्ञानसे 'अभ्युदय' और आत्मज्ञानसे ' निःश्रेयस ' प्राप्त हो सकता है। और इन दोनोंकी प्राप्तिसे मनुष्य कृतार्थ हुआ ऐसा माननेमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं दीखती। मनुष्य विशेषतः ऐहिक उन्नति प्रत्यक्ष होनेसे उसे प्राप्त करनेका यत्न करता है। ईशोपनिषद्में ' ज्ञानक्षेत्र ' संबन्धी तीन (९-११) मंत्रोंने दोनों विद्यायें प्राप्त करके ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति बिना विरोधके किस प्रकार साधनी चाहिए, यह उत्तमतया दिखाया है।

(३) कर्म-मार्ग।

ज्ञान प्राप्त करनेके बाद वह ज्ञानकर्ममें प्रकट होना चाहिए। इसके बिना ज्ञानका उचित उपयोग होना संभव नहीं। ' खाना अर्थात् पेट भरना, ' ऐसा ज्ञान होनेपर खानेके कर्म करनेही पड़ते हैं। ठीक ऐसा यहां भी समझना चाहिए। परमेश्वर पूर्ण और सर्वज्ञ होनेसे इस जगत्में उसके श्रेष्ठ कर्म सर्वत्र चल रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्यको जितना जितना ज्ञान प्राप्त होता जाएगा, उतना उतना उसका कर्मक्षेत्र बढ़ता जाएगा, यह सुस्पष्टही है। दोनोंके सम्बन्धसे कर्म उत्पन्न होते हैं। इस जगत्में ' जगत्यां जगत् ' (मं १) जगतीके आधारसे जगत् है, अर्थात संघके आधारसे व्यक्ति है, अथवा समष्टिके आधारसे व्यष्टि है। अतः इस सम्बन्धके कारण व्यक्तिको समाजके हितके लिए कर्म करने चाहिए। व्यक्तिमें भी आत्मा और शरीरका सम्बन्ध होनेसे शरीरका आत्माके लिए और आत्माको शरीरके लिए कर्म करने आवश्यक

है । परमात्मा सब जगत्में होनेसे वह सब जगत्को यथायोग्य गति देनेके पवित्र कर्म सर्वदा कर ही रहा है । अतः मनुष्यको भी अपने कर्तव्य कर्म करने अत्यावश्यक हैं । इस प्रकार दोनोंका जहां संबन्ध होता है वहां एकका दूसरेसे जो सम्बन्ध होता है, उस सबन्धसे कुछ विशेष कर्तव्य उत्पन्न होते हैं । इन्हें करनेपर उनकी उन्नति और न करनेपर अवनति होती है । साराश रूपसे मनुष्यके कर्मक्षेत्रका यह स्वरूप है ।

(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ।

मनुष्यका प्रथम कर्तव्य अपने शरीरमें सम विकास करना है । शरीरमें स्थूल और सूक्ष्म, अनेक शक्तियां हैं । स्थूल शक्ति अधिक बढानेसे सूक्ष्म शक्तियोंकी प्रगति रुक जाती है और सूक्ष्म शक्तियोंके बढानेका प्रयत्न किया तो स्थूल शक्तियां क्षीण होती हैं । इसलिए इन दोनों शक्तियोंका समविकास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है । मनुष्यके अदरकी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंका नामही ' अध्यात्म शक्ति ' है और इन शक्तियोंका विकास करनाही ' आध्यात्मिक शक्ति-विकास ' है । ' वाक् ··प्राण चक्षु ·· श्रोत्र ·· इत्यध्यात्मम् । (छां उ ३।१८।२) ' वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र इत्यादि शक्तियां आध्यात्मिक शक्तियां हैं । इनका विकास आध्यात्मिक शक्तिका विकास है । स्थूल शक्तियां बढकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायता करें और सूक्ष्म शक्तियां बढकर स्थूल शक्तियोंकी सहायक बनें इसका नाम है समविकास । ' आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ' का तात्पर्य वैयक्तिक शक्तियोंका कार्यक्षेत्र है ।

(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र ।

व्यक्तिकी यह शक्ति जैसे जैसे बढती जाएगी त्यों त्यों उसके बाह्य कार्य क्षेत्र विस्तृत होते जाएंगे । उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, संघ, जाति, राष्ट्र, मानवजनता, प्राणी, समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एकसे एक उसकी अन्त शक्तिके विकासानुसार विस्तृत होते जाएंगे । मनुष्य व्यक्ति सम्पूर्ण समष्टिके आधारसे स्थित है । व्यक्तिकी शक्तिका पूर्ण विकास होनेसे पूर्व यह व्यक्ति समष्टिके

कार्य करनेके लिए योग्य नहीं हो सकती। अतः व्यक्तिको अपनी योग्यता बढाकर अपनी शक्तिका यज्ञ समष्टिके हितार्थ करना चाहिये।

(६) आधिदैविक कार्यक्षेत्र।

इससे अगला कार्य विश्वके सम्बन्धमें जो कुछ मनुष्यके करने योग्य है वह है। इस जगत्में जो विश्वशक्ति है, उस शक्तिसे व्यक्ति और संघकी सहायता करवाना, अग्नि, जल, वायु, विद्युत् इत्यादि प्रचण्ड दैवी शक्तियां हैं उन्हें अनुकूल करके उनसे जनता और व्यक्तिके हितके कार्य कराना, यह 'आधिदैविक कार्यक्षेत्र' है।

(७) यज्ञ और अयज्ञ।

मनुष्यको इन त्रिविध कार्यक्षेत्रोंमें अनेक कर्तव्य करने हैं। और उनके द्वारा वैयक्तिक तथा सामुदायिक सुख और शान्ति प्राप्त करनी है। यह मनुष्यके कार्यक्षेत्रकी व्याप्ति है। वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य करते हुए व्यक्तिके हितके लिए समाजके हितका अर्थात् व्यष्टिके हितके लिए समष्टिके हितका नाश होना नहीं चाहिए। व्यक्तिको समष्टिके लिए आत्म समर्पण करना 'यज्ञ' और व्यक्तिका अपने सुखके लिए समष्टिके हितका नाश करना यह 'अयज्ञ' है। यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति और अयज्ञसे अवनति होती है। ऊपर जो 'जगत्यां जगत्' (मं. १) = समष्टिके आधारसे व्यक्ति है, ऐसा कहा है उसका उद्देश यही है। जिस आधारसे व्यक्ति स्थित है, उस आधारको अपने सुखके लिए नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस आधारका नाश हुआ तो फिर वह व्यक्ति कहां रहेगी? अतः अपने आधारको नष्ट करनेका भाव अपने आपका नाश करना है। अयज्ञसे जो नाश होता है वह इस प्रकार है।

(८) कर्म अकर्म और विकर्म।

व्यक्ति और संघके कर्तव्योंका कार्यक्रम परस्पर अविरोधसे होना चाहिए इसका स्पष्टीकरण 'कर्मक्षेत्र' के तीन मन्त्रोंमें किया है। उसके अनुसार

प्रत्येकको अपने कर्तव्य करने चाहिए । केवल अस्तित्वके लिएही जो कर्तव्य करने हैं उनका नाम ' अकर्म ' है । क्योंकि उनका परिणाम व्यक्तितक सीमित है । [' अकर्म ' शब्दका निष्काम कर्म ऐसा दूसरा अर्थ भी है ।] जो कर्तव्य व्यक्ति और समाजके हित करनेवाले हैं और जो यज्ञ बुद्धिसे किए जाते हैं, उनका नाम ' कर्म ' है । यज्ञवाचक सब शब्द इसी कर्मके पर्याय शब्द हैं और व्यक्ति तथा समाजका घात करनेवाले जो कर्म हैं उन्हें ' विकर्म ' अर्थात् विरुद्ध कर्म या जो नहीं करने चाहिए ऐसे कर्म, कहते हैं । अकर्म तथा कर्म, ये दोनो अविरोधपूर्वक करने चाहिए । केवल विकर्म नहीं करने चाहिए । कर्मक्षेत्रोंमें यह कर्मकी व्याप्ति इतनी विशाल है । तथापि ज्ञान द्वारा अपने कर्तव्य कर्म योग्य रीतिसे करना मनुष्यकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है । इसीलिए ' कुर्वन्नेवेह कर्माणि ' (म. २) = ' कर्म करने चाहिए, ' ऐसा उपदेश किया गया है । इस मंत्रमें *कर्म करने चाहिए ऐसा* जो कहा है, वे कर्म कौनसे यह ऊपर दिखाया गया है । व्यक्ति और सबकी उन्नति करनेवाले जो यज्ञरूप कर्म हैं वे ही करने चाहिए और इन कर्मोंको करते हुए जिजीविषेच्छतं समाः ' । (म २) = ' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर ' । यह वेदका उपदेश है ' *न कर्म लिप्यते नरे* ' । (म २) = ' कर्मोंका लेप मनुष्यको नहीं लगता ' ऐसा जो कहा है, वे ये ही यज्ञरूप कर्म हैं । वे मनुष्यको पवित्र करते हैं, उच्च पदको प्राप्त कराते हैं और पूज्य बनाते हैं

इस प्रकार ' ज्ञान और कर्म ' इन दोनो साधनोंसे साधकका कैसे लाभ होता है और *उनके द्वारा आत्मोद्धार कैसे करना चाहिए यह यहां दिखाया* है । ये दो, एकहीकी दाईं और बाईं बाजू है, अथवा एकही उन्नतिके रथके ये दोनो पहिये हैं । इनके द्वारा उन्नतिके मार्गपर मनुष्यके चलनेसे उसका विकास होकर, उसे अंतमें जो पद प्राप्त करना है वहां वह पहुंच जाता है ।

(९) अमरत्व प्राप्तिका मार्ग ।

' कर्मक्षेत्र ' का वर्णन करनेवाले जो (१२-१४) मंत्र हैं उनमें ' वैयक्तिक कर्मों द्वारा अपना विनाश दूर करके, संघनिष्ठा द्वारा समुदायक

लिए कर्म करते हुए अमृतत्वको प्राप्त करे ' (म. १४) ऐसा कहा है। इसका थोडासा यहां मनन करना चाहिए। सघनिष्ठाका क्या अर्थ है और उससे अमरत्व कैसे प्राप्त होता है, यह यहां विचार करनेयोग्य प्रश्न है। सघनिष्ठ पुरुष यदि वास्तवमें अमर होता है तो चोर डाकू भी कहीं किसीसे कम सघनिष्ठ नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें यहां ' सघनिष्ठा ' शब्दसे क्या दिखाया गया है इसका विशेष विचार करना चाहिए। इन (१२-१४) मन्त्रोंके अर्थमें ' सघभाव और असघभाव ' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। यहां ' भाव ' शब्दका अभिप्राय भक्ति ऐसा समझना चाहिए।

भाव अथवा भक्ति केवल ईश्वर परही रखनी चाहिए। ईश्वर हमारा पूज्य पिता है और उसके हम ' अमृत पुत्र ' हैं। अथर्ववेदमें ' अनुव्रत पितु पुत्र ' (अथर्व. ३।३०।२) ' पिताके कार्यको आगे चलानेवाला पुत्र हो ' ऐसा कहा है। इस नियमानुसार हम सब यदि परमेश्वरके पुत्र हैं, तो उसके चलाए हुए कार्योंको आगे चलाना या उसके कार्योंका भाग हम अपने ऊपर लेकर उसे योग्य रीतिसे पूर्ण करना हमारा कर्तव्य होता है।

ईश्वरके कौनसे कार्य जगत्‌मे चले हुए हैं ? ईश्वरके तीन प्रकारके कार्य यहां प्रचलित हैं। ' सज्जनोंका सरक्षण, दुष्टोंका दमन और धर्मका सस्थापन।' (भ गी ४।८) ये तीन प्रकारके कार्य परमेश्वर कर रहा है ऐसा सब आर्यशास्त्र कह रहे हैं। येही कार्य हमने किए, या इन कार्योंमें भाग लिया तो हम परमेश्वरके कार्य आगे चला रहे हैं ऐसा होगा। यही उसकी भक्ति या सेवा है। परमेश्वरकी भक्ति अथवा सेवा करनी चाहिए ऐसा जो कहा है, वह सेवा यही है। ' भक्ति, भजन, ' इन शब्दोंका अर्थ ' सेवा और सेवन ' यही है। (भज सेवायाम्। भज् धातुका अर्थ सेवा करना है) पिताकी सेवा पुत्रको करनी चाहिए इसका अर्थ यह है कि पिताद्वारा चलाए कार्योंमें अपना भाग बढाना चाहिए। सेवक यही कार्य स्वामीके लिए करता है। ईश्वरके सेवकको भी यही कार्य परमेश्वरार्पण बुद्धिसे नित्य करने चाहिए।

*

' सज्जनोंका परिपालन, दुर्जनोंका शासन और मानवधर्मकी स्थापना ' ये ईश्वरके कार्य हमे करने चाहिए, यही भक्ति है। और इन कामोंका करना यह सच्चा ' भक्ति मार्ग ' है। अपनी शक्तिके कारण दुर्जन अनेक प्रकारके दुःख अशक्तोंको देते हैं। उन दुःखोंसे अशक्तोंका संरक्षण करके उन्हें सुखी करना, यह ' जनतामे जनार्दनकी उपासना ' करना है। विद्यासे, शक्तिसे अधिकारसे या धनसे युक्त पुरुषोंकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनकी सेवा करनेवाले उन्हे चाहिए इतने मिल सकते हैं। परन्तु जो विद्वान् नहीं हैं, बलाढ्य नहीं हैं, अधिकारी नहीं हैं, या धनवान् नहीं हैं, उन्हें कोई सहायक नही मिलता। अतः ऐसे दीन जनोंकी सेवा करना, उसकी स्थिति सुधारना, उसकी उन्नतिके लिए अपने आपको समर्पित कर देना, यह ' ईश्वरकी सेवा ' है। दीनोंकी दया यह संतोंका मूल धन है, (तुकाराम)। इसी मूळ धनसे यह भक्तिका व्यापार करना है। जो संघ-भावना, संघनिष्ठा या संघोपासना अथवा संभूतिकी उपासना इस ईशोप-निषद्में कही है वह यही है। ईश्वर ' दीनोद्धारक ' है। इसी दीन जनो-द्धारकके कार्यका करना जनताकी उपासना है। ' गुरुकी सेवा करनी चाहिए ' अर्थात् गुरुको किसी बातकी न्यूनता नहीं रहनी चाहिए। इसी प्रकार दीनोंकी सेवा करनी चाहिए अर्थात् उनका दीनपन हटाकर, उन्हें अदीन बनाकर उनके उद्धारामें जो कुछ करना आवश्यक हो वह करना चाहिए।

यही दीनोद्धारका काम परमेश्वरकी भक्ति है। दुःखितोंके दुःख देखकर अन्तःकरण खिन्न होना चाहिए। इस विषयमें अथर्ववेदका मंत्र देखिए—

ये भक्ष्यमाणमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥
(अथर्व. २।३४।३)

' जो तेजस्वी लोग बद्ध मनुष्यको अपने मन और चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें ही प्रजाजनके साथ रमण करनेवाले विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीतिसे मुक्त करता है।

इस मन्त्रम भी यही कहा है कि दीन, दु खी, बद्ध और परतन्त्र लोगोंपर जो लोग दया करते हैं, उनकी दीनता दूर करनेके लिए अविश्रांत परिश्रम करते हैं, उन्हेंही सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) वह मुक्त करता है, क्योंकि विश्व निर्माता देव (प्रजया सरराण) जनतामे रहता हुआ उनसे आनन्दसे आनन्दित होनेवाला है। इसीलिए वह जनताके दु खोको देखकर खिन्न होता है और जनताको कष्ट देनेवाले उन दुष्टोके दलनेके लिए प्रेरणा करता है। ' सप्रथित ' क्या है, वह कैसी प्राप्त करनी चाहिए, और उसे करनेसे (अमृतत्व) अमरपन कैसे प्राप्त होता है यह इस विवेचनसे ध्यानमे आ जायेगा।

वेद प्रतिपादित ' भक्तिमार्ग ' यह है। जिस मनुष्यकी जितनी योग्यता होगी, उतने अधिकारक्षेत्रमे वह कार्य कर सकेगा। एकाध वैद्य निर्धन रोगीका योग्य औषधोपचार करके मैंने ईश्वर सेवा की ऐसा समझ सकता है। दूसरा कोई तृषितको थोडा जल देकर वैसीही ईश्वर-सेवा कर सकता है। कोई वीर परतन्त्र देशको पीडित करनेवाले शत्रुको दूर करके जनताको स्वतन्त्र करके परमेश्वरकी सेवा की ऐसा समझ सकता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। (भ गी १८।४६)

स्वकर्मोसे ईश्वरकी उपासना करके सिद्धि प्राप्त करनेका यह मार्ग है। ये कर्तव्य क्षेत्र विविध हैं और कर्ताकी पुरुषार्थ शक्तिके अनुसार उसके कर्तव्य भी अनेक हैं, परन्तु उन सबका तत्त्व ' जनतामे जनार्दनकी सेवा ' यही एक है। यही ' भक्ति मार्ग ' है और पूर्वोक्त ' ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग ' ये दोनों मार्ग इसके अन्तर्हित होते हैं। इस मार्गसे जानेवाला भक्तही सरल और शीघ्र मुक्त होता है, यह उपरोक्त अथर्व वचनसे स्पष्ट प्रतिपादित है।

आजकल प्रचलित भक्तिमार्गमे इस जनसेवोपासनासे ईश्वर भक्ति होती है ऐसा कोई भी नहीं मानता और केवल ' नाम-स्मरण ' ही तारक है ऐसा माना जाता है। वह यद्यपि अन्त शुद्धि मात्रके लिए ठीक है तथापि ईश्वरकी बहिरंग उपासना वह नही है। अत उनके कार्य आधेही होते हैं। (तत् उ अन्त बाह्यतः च। मं. ५) ईश्वर अन्दर है और बाहिर भी है,



नामस्मरणसे यदि उसकी अन्तःकरणमें पूजा हुई, तो उसके 'नाम' से बताये कर्तव्य बहिस्थ जनता रूप जनार्दनके लिए उसे करनेही चाहिए। तभी कर्तव्योंकी आन्तरिक और बाह्य पूर्णता होनी संभव है। एक अन्तर्यामीके कर्तव्य किए तो आधा कार्य हुआ। दूसरा बहिस्थ ईश्वरके लिये कर्तव्य करने तक कार्य पूर्णही नहीं होगा।

अब यहां एकही प्रश्नका विचार करना है और वह यह कि 'जन सम भक्ति' अथवा 'संभूतिकी भक्ति' या पृथिवीपर संपूर्ण जनताकी सेवा एक मनुष्यसे कैसे हो सकती है? वस्तुतः 'संभूति' में सर्व प्राणियोंकी समष्टिकी कल्पना है। किसी भी एक मनुष्यके लिए सब मनुष्योंतक अपनी सेवा पहुंचाना संभव नहीं। इसलिए अपना दया भाव और प्रेमभाव जितना संभव हो, उतना विस्तृत करनेसे, उससे जितनी अवश्य सेवा होगी, उतनी वह जनार्दनको अर्पण होगी और उतनी उसकी उन्नतिमें सहायक होगी। सब प्राणियोंतक उसकी सेवा पहुंचनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल उसकी सबमक्तिसे अधर्म बढना नहीं चाहिए इतनी सावधानी उसे रखनी चाहिए।

राक्षस भी संभूत्युपासक थे, परन्तु वे अपने संघबलसे दूसरोंका नाश करके अपने भोगको बढानेका प्रयत्न करतेथे कारण उनके प्रयत्न जनताके दुःख बढानेके लिये कारण होते थे। इसलिए ऐसे प्रयत्नोंसे अधोगति होती है। 'सब दुष्ट दूर हों, अथवा दुष्टोंकी वृत्ति बदल जाए, सज्जनोंका संरक्षण हो और धर्मका उत्कर्ष हो'। इस दिशामें जो सबकी भक्ति होती है वही उद्धारक है। इसमें दूसरोंके रक्तसे सने हुए भोग हमें मिले ऐसा उद्देश नहीं है, अपितु सर्वत्र शांति फैले, मानवधर्मका उत्कर्ष हो और सब लोग सुखी हों, इस दृष्टिसे प्रयत्न करना चाहिए। इस कर्तव्यकी दिशा इस उपनिषद्ने संभूति प्रकरणद्वारा दर्शायी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष तप, स्वाध्याय, और ईश्वरभक्ति, यह जो शुद्ध सनातन धर्म है, उसका प्रारंभ अहिंसासे अर्थात् भूतदयासे होकर अंत 'सर्वस्व समर्पण' में होता है। इसलिये राक्षसी स्वार्थको इस धर्ममें जरा भी स्थान नहीं है।

सत्यनिष्ठा।

जगत्मे शान्तिकी स्थापना करना यह मनुष्यका साध्य है। और इस साध्यको साधनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन साधन हैं। इन तीनो साधनोका दुरुपयोग न हो इसलिए 'सत्य' की कसौटी मनुष्यको सदा अपने पास रखनी चाहिए ऐसा पंद्रहवे मन्त्रने सूचित किया है। 'सुवर्णका मोह छोडनेमे सत्य दिखेगा'। 'लोभ छोडना चाहिए' ऐसा कहनेके कारण सत्यभक्तिसे सब राक्षसी स्वार्थ और अनर्थ दूर हो सकते है।

ऐसी इस निर्लोभ सत्यनिष्ठासे पवित्र हुए ज्ञान, कर्म और भक्तिसे सर्वत्र शान्ति स्थापित करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

सिंहावलोकन।

'हमने जो कुछ किया उसका क्या परिणाम हुआ, वह हमारे उद्धारके लिए सहायक हुआ या नही, कौनसे प्रतिबन्ध आए इसका सिंहावलोकन करते हुए उपरोक्त मार्गका अनुसरण करना चाहिए' एसा पुन १७ वे मन्त्रमे बताया है। 'कृत स्मर' = 'क्या किया है यह देखो और फिर आगे जो कुछ करना है यह करो'। यह उपदेश सबको सदा ध्यानमे रखने योग्य है।

इस प्रकार ईशोपनिषद्के मुख्य उपदेशोका मनन यहा समाप्त हुआ। इसका इस रीतिसे अधिक विचार करके साधक अपनी उन्नति करते रहें। शेष उपदेश यद्यपि विशेष बोधप्रद है, पर वह सुगमतासे समझने योग्य होनेसे उसका यहा अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया है।

वेदका आदेश।

कितने लोग ऐसा समझते हैं कि वेदके मन्त्रभागोमे 'आज्ञा' (विधि) नही है। 'मनुष्य! तू यह कर और यह न कर' ऐसी स्पष्ट आज्ञा नहीं है, एसा जो समझते है, उसका अर्थ इतनाही है कि सब संहिताओमे सभी आज्ञार्थक वाक्य नहीं है। परन्तु वेदोमे बहुत आज्ञायें हैं—

(१) मा गृधः = लोभ मत कर ।
(२) त्यक्तेन भुञ्जीथाः = दानसे भोग कर ।
(३) कृतं स्मर = किए हुए कार्योंका स्मरण कर ।

इत्यादि आज्ञा इस ईशोपनिषद्मे (अर्थात् यजु. अ. ४० में) है। इन्हें देखनेपर वेदमें आज्ञायें नहीं है ऐसा किसीको भी समझना नहीं चाहिए। परन्तु जो लोग, आज्ञायें नहीं है ऐसा मानते हैं, उनका अर्थ वह यह है कि-उन्हें चाहिए उतनी आज्ञायें वेदमें नहीं है। 'आज्ञा होनेपरही काम करना, नहीं तो नहीं ' यह वृत्ति दास मनुष्योंकी है।

स्वतंत्र मनुष्य आन्तरिक स्फूर्तिसे काम करता है। लोगोंको गुलाम बनानेकी वेदकी इच्छा नहीं है, अतः वह किसीको बहुतसी आज्ञा नहीं करता, परन्तु वह ऐसी शब्द योजना करके वर्णन करता है कि उससे मनुष्यके अन्तःकरणमे स्वयं स्फूर्ति उत्पन्न हो। और वह अपनी अन्तःस्फूर्तिसे स्वतंत्रतासे अपने कर्तव्य करे तथा अपनी उन्नति करे।

इससे पाठकोंको पता चलेगा कि वेदमन्त्रमें आज्ञार्थक प्रयोग बहुतसे नहीं हैं यह वैदिक धर्मके महत्त्वको बढानेवाली बात है। 'इन्द्र अपने बलसे शत्रुका नाश करता है' ऐसा कहतेही, 'हम अपना बल बढाकर शत्रुका नाश करना चाहिए' ऐसी स्फूर्ति मनमें उत्पन्न होती है। इसी प्रकार वेदोंमें जिस देवताकी स्तुति है वह उपासकके अन्तःकरणमें वैसी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिए ही है। अतः वह आज्ञा न भी हुई तो भी आज्ञाकाही काम करती है। इतनाही नहीं परन्तु उसका परिणाम उससे भी अधिक बडा होता है। इस दृष्टिसे वेदके प्रशंसात्मक मन्त्र अत्यन्त महत्त्वके हैं। इस ईशोपनिषद्मे बहुतसे मन्त्र 'आत्मा ' देवताकी प्रशंसा परक हैं। केवल तृतीय मन्त्र 'आत्मघातक' लोगोंकी निन्दा परक है। इस प्रकारसे निन्दा करनेवाले जो मन्त्र हैं, वे अवनतिकारक कर्म न करनेका उपदेश करते हैं। 'अमुक मत करो' ऐसी निषेधक आज्ञा न करते हुए 'ऐसे आत्मघातक कर्म करनेसे ऐसी अधोगति होती है' ऐसे वेदमन्त्रोंमें कहा है। यह निन्दा सुनकर ऐसे अधोगतिकारक

कर्म न करने चाहिए ऐसी स्वाभाविक इच्छा मनमें उत्पन्न होती है। स्तुतिके मत्रोंसे मनुष्योंकी सत्कर्मोंकी ओर प्रेरणा तथा निन्दाके मत्रोंसे हीन कर्मोंकी ओरसे निवृत्ति होती है। मनुष्यको दुष्ट कर्मोंसे निवृत्त कर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करना यह धर्मका उद्देश इस प्रकार वैदिक धर्मसे सिद्ध होता है। आज्ञा करके मनुष्योंमें गुलामीका भाव बढानेकी सुरक्षा इस प्रकारसे मनुष्यकी अन्तःप्रवृत्तिको ही बदलना सर्वथा श्रेयस्करही है।

अब वेदके सम्बन्धमें दूसरी एक बात यहां ध्यानमें रखने योग्य है। और वह यह कि वेदमें ' प्रशसा ' रूप मत्रोंकी सख्या बहुत अधिक है और ' निन्दा ' रूप मत्रोंकी सख्या बहुत थोडी है। इस छोटीसी उपनिषद्में अठारह मत्रोंमेंसे केवल एकही मत्र निन्दापरक है, शेष सब मत्र प्रशसात्मक है। इसका कारण यह है कि ' मनुष्यका मन जिस बातका अधिक मनन करता है तदनुसार वह बनता है।' मनका यह धर्म है। इसलिए मनके सामने कौनसी बात लानी चाहिए और कौनसी नही, इस विषयमें अत्यधिक विचार करना चाहिए। निषेधरूपमें भी यदि बुरी कल्पना मनके सामने रख दी जाय तो भी उसका बुरा परिणाम मनपर होता है। बुरी बुरी कल्पनायें निषेधरूपमें बार बार सामने आनेसे उनका प्रभाव धीरे धीरे मनपर पडता जाता है और अन्तमें मनके यह स्थिर रूपसे मनपर जम जाता है। इसलिये निषेधकी आज्ञायें भी बहुत थोडी होनी चाहिए और वे ऐसी भाषामें होनी चाहिए कि उनका यथा सभव मनपर प्रभाव कम पडे। ' बुरी बात मत करो ' ऐसा कहनेमें प्रथम बुरी बातकी कल्पना मनुष्यको दी गई और फिर उसका निषेध किया गया। इसलिए ऐसे निषेध बारबार मनके सामने आने लगे तो उनका अच्छा परिणाम होनेके स्थानपर उनका मनपर अनिष्ट परिणाम ही होगा। इसी-लिए मनके इस धर्मका विचार करते हुए वेदमें बुरी बातोंके निषेधोंके भी मत्र बहुत थोडे हैं और प्रशसाके मत्र प्रकाशके धर्मकी स्फूर्ति देनेवाले होनेसे अधिक हैं। ईशोपनिषद्में अथवा यजुर्वेदके ४० वे अध्यायमें १७ मंत्र प्रशसापरक हैं और केवल एक ही मत्र निन्दापरक है।

उपदेश भी केवल ' सत्यधर्मकी दृष्टि ' (म १५) मनुष्यके मनमें उत्पन्न करनेके लिए ही करना चाहिए और वह सत्यकी प्रशंसा करके किया जाना चाहिए न कि असत्यका निषेध करते हुए। वेदके उपदेशमें यह विवेक अवश्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए ईशोपनिषद्का उपदेश सर्वथा सरल शब्दोंमें नीचे दिया जाता है। भावार्थ स्पष्टतया ध्यानमें आनेके लिए उसमें कुछ शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं कहीं क्रियापदोंमें थोडासा परिवर्तन भी किया है। कहां क्या परिवर्तन किया गया है यह पीछे दिए गए उपनिषद् वचनोंसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है। यह परिवर्तन इसलिये किया है कि किस मंत्रसे किस भावनाकी जाग्रति मनमें उत्पन्न होती है, यह पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ सके।

उपनिषद्का भावार्थ।

शान्ति मंत्र।

यह आत्मा पूर्ण है और उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है। यद्यपि उस पूर्णसे यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है तथापि वह जैसाका वैसाही परिपूर्ण रहा है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई है।

आत्मज्ञान।

(१) (आत्मा) ईश इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप रहा है। इस जगत्में सबके आधारसे व्यक्ति रहता है। अतः व्यक्तिको अपने भोगोंका त्याग (यज्ञ) सबके लिए करना चाहिए और त्याग करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भोग करना योग्य है कोई लोभ न करे। धन किसी एक व्यक्तिका नहीं, वह सब जनताका है।

(२) मनुष्य इस जगत्में सर्वदा प्रशस्त कर्मही करता रहे, और सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न करे। यह ही मनुष्यका धर्म है; इसे ध्यानमें रखना चाहिए। इसको छोडकर दूसरा उन्नतिका मार्ग नहीं है। सत्कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता।

(३) केवल शारीरिक शक्तिके लिए ही प्रसिद्ध कुछ लोग हैं, परन्तु उनमे आत्मिक ज्ञान जरा भी नही होता। जो आत्मघातकी लोग हैं वे मरनेके बाद और जीतेजी भी, ऐसेही लोगोमे गिने जाते हैं।

(४) वह आत्मा अद्वितीय, स्थिर, सबसे प्रथम, द्रष्टा, और मनका भी प्रेरक है। वह इन्द्रियोंको नही दीखता। सब वेगवान पदार्थोंकी अपेक्षा भी उसका वेग अधिक है। उसके आधारसेही मनुष्य अपने कर्म धारण करता रहता है।

(५) वह स्वयं नही हिलता तो भी सबको चलाता है वह दूर होता हुआ भी सबके पास है। वह सबके अन्दर और बाहिर भी है।

(६) जो सर्व प्राणियोको आत्मामे और आत्माको सब प्राणियोमे देखता है वह किसीका भी तिरस्कार नही करता।

(७) *जिस समय आत्माही सब भूत बन गया उस समय सर्वत्र एकत्वका* अनुभव प्रतीत होनेसे उसे किसी भी कारणसे शोक अथवा मोह नही होता।

(८) वह सर्व व्यापक है। वह देह रहित, स्नायु और व्रणसे रहित है। इसी प्रकार वह शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, मनका स्वामी, विजयी और स्वयम्भू है, और वह सदा सब कर्तव्य योग्य रीतिसे करता रहता है।

(९) जो केवल जगत्की विद्याकेही पीछे लग जाते हैं वे अवनत होते हैं। इसी प्रकार जो केवल आत्माकी विद्याके पीछे लग जाते हैं वे भी अवनत होते हैं।

(१०) जगत्की विद्याका फल और आत्माकी विद्याका फल पृथक् पृथक् है ऐसा विचारशील उपदेशकोका कहना है।

(११) जगत्की विद्या और आत्माकी विद्या ये दोनोही साथ साथ उपयोगी हैं। जगत्की विद्यासे (सांसारिक) दुःख दूर करके साधक आत्माकी विद्यासे अमर हो सकता है।

(१२) जिनकी दृष्टि केवल व्यक्तितकही सीमित है वे अधोगतिको जाते हैं और जिनकी दृष्टि केवल सघतक सीमित है वे भी अधोगतिको पाते हैं ।

(१३) व्यक्ति निष्ठासे एक लाभ होता है और सघनिष्ठासे दूसरा लाभ होता है ऐसा विचारशील उपदेशक कहते आये हैं ।

(१४) व्यक्तिका हित और सघका हित इन दोनोंको साधना चाहिए व्यक्तिकी उपासनासे वैयक्तिक कष्ट दूर करके सघसेवासे साधक अमर हो सकता है ।

(१५) सत्यका मुख सुवर्णके ढक्कनसे ढका गया है । अत यदि सत्य देखना हो तो वह सुवर्णका ढक्कन दूर करना चाहिए ।

(१६) हे पोषक ! हे सर्वज्ञ और नियामक प्रजापति देव ! तेरी किरणे एक ओर कर और अपना मगलमयरूप मुझे दिखा, वह मुझे देखना है। शरीर धारण किया हुआ मैं प्राणशक्तिसे उन्नति चाहनेवाला तेरा उपासक हूं।

(१७) प्राण अपार्थिव अमृत है और यह स्थूल शरीर नाशवान् है । अत हे जीव! औंकारका जप कर और अपने किए हुए कर्मोंपर विचार कर

(१८) हे देव ! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयके पास ले चा । तू हमारे सब कर्मोंको जानताही है । हमारेसे कुटिल पापोको दूर कर । इसके लिए हम सब तुझे नमस्कार करते हैं ।

यह ईशोपनिषद्का सरल रूपान्तर है । शब्दश अनुवाद पूर्व स्थानमें दिया है । यह यहां पुन. देकर द्विरुक्तिका दोष किया है तथापि कई मन्त्रोका आशय केवल भाषान्तरसे एकदम ध्यानमे नहीं आसकता, अत यह सरल शब्दोंमे रूपान्तर दिया है । इस आरम-सूक्तमें मुख्यत आत्माका गुणवर्णन है तथापि प्रार्थना, उपासना, निन्दा, स्तुति, प्रशसा, आशा, याचना आदेश आदि सब प्रकारके मंत्र इसमे हैं इस दृष्टिसे विचार करनेवालेको यह सरल रूपान्तर सहायक होगा । आज्ञा और निन्दा कितनी थोडी है और प्रशसा कितनी अधिक है, इनकी तुलना यहां देखने योग्य है । बुराईकी निन्दातक अधिक नहीं करनी चाहिए, और की भी तो बहुत थोडी । बुरे शब्दोंसे जिह्वाको

थोडासा भी खराब करना नही चाहिए। सुविचारके शब्दही उच्चारने चाहिए। यही वेदका आशय है। देखिए—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। (ऋ. १।८९।८)

' अच्छी बातें कानोंसे सुने और अच्छीही बातें आखोंसे देखें। ' किसी भी तरहसे, निषेध करनेके लिए भी बुराईका स्मरणतक न करे। वेदमें स्तुति और प्रशंसापरक मंत्र अधिक तथा निन्दा और आशापरक कम हैं, इसका यही कारण है। मनका स्वभावधर्म ' मननसे तद्रूप होनेका ' होनेसे वेदोंने प्रशंसनीय दिशाही लोगोंके सामने रखी है। सत्यके सिवाय शेष जो कुछ है वह असत्यही है। उसका वर्णन करके मनको कलुषित करनेसे क्या लाभ ? इसके अतिरिक्त 'सत्य एक ' होनेसे उसको कहा जा सकता है पर असत्योंकी गणना करके कहना असंभव है। उदाहरणार्थ एक और एक कितने होने है ? इस प्रकार उत्तर एकमात्र सत्य ' दो ' है इसके सिवाय शेष सब संख्याएं असत्य हैं। ऐसी दशामें उन सब असत्य उत्तरोंका कहना कठिन है पर इस प्रश्नका एक मात्र सत्य उत्तर ' दो ' अति सुगमतासे प्रकट किया जा सकता है। यही बात सब विषयोंके सत्यासत्यके कथनमें समझनी चाहिए।

उपरोक्त मंत्रोंमें जो स्तुतिविषयक मंत्र है, वे परमात्माके गुणोंकी प्रशंसा कर रहे हैं। परन्तु कभी न कभी इस उपासककी आत्मा उन गुणोंसे युक्त होनेवाली है अतः ' हमारे अन्दर विद्यमान् आत्माके भावी स्वरूपका वर्णन ' यह है अथवा ' सोऽहं ' (मं १६) = ' वह मैं हूं ' ऐसा समझते हुए वह वर्णन पढनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और कितनी होनी है, यह उससे ठीक ठीक ज्ञान होगा। इस तरह जाननेसे अपनी कर्ममार्गपर कितनी प्रगति हुई है इसका ज्ञान प्रत्येकको हो सकता है।

तीन मार्ग।

ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग ये तीन मार्ग है। इन्हें एकही स्तुति विषयक मंत्रमें अथवा सूक्तमें कैसे समझा जा सकता है यह अब देखिए,

उपरोक्त सूक्तमें (१) जो परमात्मापरक स्तुतिका वर्णन है, वह हमारी आत्माका, उसके पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी अन्तिम अवस्थाका वर्णन है क्योंकि 'सोऽहं (मं. १६) ' = ' वह मैं ' होनेसे यह वर्णन जैसा उसका है वैसा मेरा भी है, ऐसा समझकर यह आत्माका ज्ञान हमें कितना प्राप्त हुआ है, यह देखते जाना और आगे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते जाना यह, 'ज्ञान मार्ग ' है । (२) परमात्मा क्या करता है यह उसके वर्णनसे या स्तुतिसे जानकर तत्सदृश कर्म ' स (इव) अहं ' = ' उसके सदृश मैं ' होऊंगा ऐसी भावनासे अपने कर्तव्य क्षेत्रानुसार यथा संभव निर्दोषपूर्ण कर्म कर्म करते रहना यह ' कर्ममार्ग ' है। इस विषयमें, क्या क्या बोध लेना चाहिए यह मन्त्रखण्डोंसे तालिका द्वारा पहिले दिया है। (३) इन दोनो मार्गोंमें कुछ समानताका नाता दिखाया जाता है। जगत्‌में परमेश्वरके जो महान्‌से महान् कार्य चल रहे है उनमेंसे यथा समय भाग परमेश्वरार्पण बुद्धिसे बंटाना, उससे जनतामें जनार्दनकी यथाशक्ति सेवा करनी और फलेच्छाकी जरा भी इच्छा न रखते हुए ' (तस्याऽहं) ' = ' उसका मैं हूं ' ऐसी भावनासे केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे की गई सेवाको परमेश्वरकोही अर्पण करना, यह ' भक्तिमार्ग ' है । एकही स्तुति विषयक सूक्तसे ये तीनों मार्ग इस रीतिसे विचार और मनन करनेवालेको सुगमतया समझमें आ सकते है । आधुनिक समयमेंही ये मार्ग प्रचलित हुए है ऐसा बात नहीं है । अपितु वेदमें ये पूर्वसेही इस प्रकारसे है । इस ईशोपनिषद्‌के मंत्रोंसे ये तीनों मार्ग पाठक समझ सकेंगे । भक्तिमार्गका उत्तम उदाहरण हनुमान्‌जीका है। राम नामके जपसे अन्तःकरणकी पवित्रता करनी और श्रीरामके जगदुद्धारक कर्मोंका यथाशक्ति अपने ऊपर भार लेकर ईश्वरकोही बहिरंग उपासना करनी, ये भक्तिमार्गके द्विविध कार्य श्री हनुमान्‌जीकी जीवनीको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होते हैं । ऐसे और भी बहुत भक्त हैं। उनके चरित्रोंमें भी यही बात दिखाई देगी

विरोधका परिहार

ईशोपनिषद्‌में ' विद्या प्रकरण ' और ' संभूति प्रकरण ' है । उनमें ' विद्या अविद्या ' और ' संभूति असंभूति ' इन शब्दोंके अनेक भाष्यकारोंने अन्य

विविध अर्थ किए हैं। इसीलिए इनके अर्थ अन्तर्गत प्रमाणोंसे क्या होते हैं यह यहा दिखाना आवश्यक है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रथम मत्रमें '**ईशा वास्यमिदं सर्वं**' ऐसा वाक्य है। इसमें 'ईश और इद' ये दो पदार्थ ज्ञातव्य है और ये एक दूसरेसे भिन्न हैं। इनका ज्ञानक्षेत्र है।

ईश	इद
ईश	जगत्
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
आत्म–विद्या	अनात्म–विद्या
विद्या	अ विद्या

इसप्रकार ये शब्द प्रथम मत्रके अनुरोधसे बनते हैं। येही शब्द विद्या अविद्या प्रकरणमें क्रमश 'आत्मज्ञान और जगत्का विज्ञान' इस अर्थमें आए है। पहिले मत्रके पदोका विचार करनेपर अगले मत्रोका स्पष्टीकरण सुगमतासे हो जाता है। और किसी भी प्रकारकी शका नही रहती।

इसी मत्र भागके अगले 'जगत्यां जगत्' ये शब्द जगत्का स्वरूप वर्णन करनेवाले है। जगत् कैसे है? इसका उत्तर है कि वह 'जगतीके आधारसे जगत्' स्थित है। जगतोके समूहका नामही 'जगती' है। 'सघके आधारसे व्यक्ति इस जगतमे रहती है' यह जगत्का नियम है। 'एक और उसकी जाति', यह जगत्का रूप है।—

जगती	जगत्
स+भूति	अ+सभूति
सघ	व्यक्ति

'स+भू' धातुका अर्थ 'एक होकर रहना' है। एक होकर न रहनेके भावको 'अ+स+भू' धातु दर्शा रही है। एक होकर जमा करके रहनेकी एक कल्पना और अकेले अकेले रहनेकी दूसरी कल्पना, ऐसी दो कल्पनायें 'सभूति और असभूति' इन दो शब्दोसे दिखाई गई। इन दोनोकी जजीर बनाकर

उससे मनुष्यकी उन्नति किसप्रकार साधी जा सकती है । यह इस प्रकरणमें दर्शाया गया है ।

परस्पर विरोधी शक्तियोंसे एक दूसरेके लिए सहायता कैसी प्राप्त करनी चाहिए, यह बात पाठक यहां अवश्य ध्यानपूर्वक देखें, क्योंकि जगत्‌में सर्वदा परस्पर विरोधी विचारकोंकी यदि कहीं भेट भी हो गई तो एक दूसरेके विचारोंकी एकता न होनेसे प्राय झगडे होते हैं और उनके बढ जानेसे दोनोंका नाश हो जाता है । परन्तु यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंको एक केन्द्रमें परस्पर सहायक बनाया जाय, तो दोनोंका अनेक प्रकारसे कल्याण हो सकता है । विरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियोंको सहायक कैसे बनाना चाहिए यह इस प्रकरणका विचार करनेवाला सुगमतासे समझ सकता है ।

असुर्य लोक ।

' असुर्य लोक ' गाढ अन्धकारसे व्याप्त हैं ऐसा तृतीय मन्त्रमें कहा है । ये असुर्य लोक कौनसे हैं, इस विषयमें बहुतोंने बहुतसे तर्क किए हैं । कितनोंने ' सूर्य जहां नहीं है ऐसे देश ' ऐसा अर्थ किया है । परन्तु यहांपर ' असुर्य ' शब्द है ' असूर्य ' नहीं । दूसरे कुछ मानते हैं कि ' असुर ' का अर्थ राक्षस है, और उनके देशका नाम ' असुर्यलोक ' है । परन्तु ये सब अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते । वेदमें ' असु+र ' यह शब्द ' प्राणशक्ति (असु+र) देनेवाला ' इस अर्थमें परमेश्वरके लिए आया है । वेदमें बहुतसे देवताओंके लिए ' असुर ' शब्द इसी अर्थमें विशेषण रूपसे आया है । ' असुरत्व ' शब्द (ऋग्वेदमें २८ बार, वाज यजुर्वेदमें ३ बार, और अथर्वमें २ बार) उपरोक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । ' असुर्य ' शब्द वेदमें अन्य दूसरे किसी अर्थमें भी नहीं आया है और केवल ' परमेश्वरसे मिलनेवाले (असु-र्य) प्राणोंके बल ' इसी एक अर्थमें आया है । प्राणके ऊपरके बौद्धिक, मानसिक आदि बल इससे भिन्न हैं ।

इस अर्थको ठीक ठीक समझनेके लिए यहां थोडासा भिन्न रीतिसे विचार करना आवश्यक है । शरीरमें (असु) प्राणोंकी शक्तिको गति देनेवाला आत्मा है । उसके रहते हुए शरीरमें प्राण शक्ति कार्य करती रहती है और वह गया कि

प्राणोका कार्य बन्द होना है। इस दशामे शरीरमें (असु+र) प्राणशक्ति देनेवाला आत्मा ही है इसमे शका नही । इस आत्माके जो बल शरीरमे दीखते हैं वे ' असुर्य ' बल हैं । आत्मासे प्राप्त जो प्राणोके बल हैं वे येही हैं। ये प्राणोके बल इन्द्रियोमे और शरीरमे सचार करते है, इसीलिए प्राणोके बल इस स्थूल शरीरमे दीखते हैं । रावणके शरीरमे जैसे ये असुर्य बल थे वैसेही रामके भी' शरीरमे थे । केवल दोनोंमे भेद इतना था कि रावण अपनी शक्तिसे दूसरोको परतत्र करके अपने शारीरिक भोग बढाता था और इसलिए राक्षस गिना जाता था और श्रीरामचद्र समर्थ होते हुए भी स्वयं कष्ट उठाकर दुःखितोके दुःखको दूर करनेके लिए आजन्म प्रयत्न करते रहे। अतः उनकी गणना देवोमे हुई। असुर्य बल दोनोमे होता हुआ भी एक देव और दूसरा राक्षस बन सकता है। इसका कारण उनकी आत्मिक शक्तिकी प्रवृत्तिमे भेद है । इसीलिए ही—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

' असुर्य बलसे प्रसिद्धि पाए हुए वे लोग हैं जो गाढ अधकारसे व्याप्त हैं। इस मत्रमे ' असुर्यलोको ' का ' गाढ अन्धकारसे व्याप्त ' ऐसा विशेषण दिया है । वह इसीलिए कि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले दूसरे असुर्य लोक भी हैं, उनका बोध इस मत्रमे न हो । उनका वर्णन हम इसप्रकार कर सकते हैं—

असुर्या नाम ते लोका आत्मभासा प्रकाशिताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्मविदो नराः ॥

' असुर्य बलसे प्रसिद्ध वे लोग है कि जो आत्माके तेजसे प्रकाशित होते हैं। उनमे मरनेके बाद भी उनकी गणना होती है जो कोई आत्मज्ञानी नर है। (यह श्लोक हमने अपनी कल्पनासे बनाया है ।)

ऐसी अर्थापत्तिसे और विशेषणके अनुसधानसे श्लोकका हम निर्माण कर सकते हैं, और इससे पता चलेगा कि असुर्य लोग जैसे राक्षसोमें हो सकते हैं, ठीक वैसेही देवोमे भी हो सकते हैं। रावण और राम दोनोंही असुर्य शक्तिसे युक्त थे, पर रावण अधतमसे व्याप्त था और दूसरा आत्मप्रकाशसे पूर्ण था;

क्योंकि प्रथमकी अन्तःकरण-प्रवृत्ति स्वार्थी भोगतृष्णासे अन्ध हुई थी और इसके विरुद्ध दूसरेकी शुद्धाचरण और जगदुद्धारकी प्रेरणासे प्रकाशित हुई थी। अन्तःशक्ति भी ऐंजिनकी तरह है। वह केवल गति देती है। एंजिनकी शक्तिसे काटनेके यन्त्र जैसे फिरते हैं वैसेही जोडनेके यन्त्र भी फिरते हैं। इसीप्रकार यहां भी समझना चाहिए।

धनका अपहार।

प्रथम मन्त्रमें ' मा गृधः, कस्य स्विद् धनं '। (मं १) ऐसा एक चरण है। उसका, ' (१)लोभ मत कर, (२) धन भला किसका है ? ' ऐसा अर्थ हम पहिले कर आए हैं। कुछ लोग इस मन्त्रखण्डके ऐसे दो भाग न मानते हुए ' कस्य स्विद् धनं मा गृधः। ' किसीके भी धनका लोभ मत रख, ऐसा अर्थ करते हैं। यद्यपि यह अर्थ बुरा नहीं है तथापि इस मन्त्रमें जो ' स्वित ' शब्द है वह प्रश्नार्थक है। ' क्या, भला ' ऐसाही उसका अर्थ होता है। ' कस्य स्वित् ' इसका ' कस्य चित ' ऐसा अर्थ नहीं होता। ' दूसरे किसीके भी धनपर लोभ मत रख ' ऐसा अर्थ कई मानते हैं। दूसरेके धनका अपहार मत कर, दूसरोंको लूट करके अपने उपभोग मत बढा। यह एक उत्तमही उपदेश है पर इससे अर्थापत्तिद्वारा एक ऐसी ध्वनि निकलती है कि ' स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त की हुई जो धन संपत्ति हो और जो पैतृक संपत्ति अपने भागमें आई हुई हो, वह दूसरेकी न होनेसे और केवल अपनी ही होनेसे उस सब संपत्तिका हम स्वयं चाहिए जैसा उपभोग करें, उसमें कोई भी आपत्ति नहीं। ' इस दृष्टिसे यह अर्थ धर्मकी दृष्टिमें थोडासा गौणही प्रतीत होता है। धर्म ऐसा कहता है कि जो कुछ हमारा धन हो उसका भी लोभ न करते हुए उसका यज्ञ करना चाहिए अर्थात् ' उसका विनियोग सज्जनोंके सत्कार करनेमें, समान लोगोंकी संगतिकरणमें और जिनमें न्यूनता है उनकी न्यूनता हटाकर पूर्णता करनेके लिए दान देनेमें व्यय करना चाहिए। ' यज्ञ अर्थात् ' सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म। ' अपने धनका इन कार्योंमें उपयोग करना चाहिए। अपने धनका ऐसा उपयोग करना ही वास्तविक [त्यक्तेन भुञ्जीथाः । (मं १)] है

ऐसा माने, और ऐसा अपने धनका यज्ञ करके जो कुछ अवशिष्ट रहेगा उसका अपने लिए भोग करे। यज्ञशेष भक्षण धर्म है, यहां दूसरेके धनका लोभ नहीं करना चाहिए, इतनाही अर्थ है यह बात नहीं, अपितु अपने धनका भी लोभ नहीं करना चाहिये ऐसा यहां दर्शाया है। (त्यक्तेन भुञ्जीथा) दानसे अपने धनके भोगकी आज्ञा है। (मा गृधः) धनका लोभ मत कर। (कस्य स्वित् धनं ?) किस एक व्यक्तिका भला धन है ? इसका विचार कर। ऐसा मंत्रका अर्थ सीधा दीखता है। विचारकको उसी समय पता लग जाएगा कि धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है; क्योंकि जो व्यक्ति धन मेरा है ऐसा मानता है वह व्यक्ति थोडेही समयमें सब धन यहींपर छोडकर चला जाता है। इसलिए धन किसी भी एक व्यक्तिका नहीं, यह सत्य है। धन सब जनताका, समाजका सघका अथवा जातिका या समष्टिका है, व्यक्तिका नहीं। यद्यपि धन कुछ कालके लिए एक व्यक्तिके आधीन होता है, तथापि उस धनका वास्तविक स्वामी समाज है और वह व्यक्ति उस समाजके धनके एक भागका ' विश्वस्त पंच ' है। पंच अपने आधीन धनका अपने लिए उपभोग नहीं कर सकता, वह जिसका है उसके लिए उसका उपयोग कर सकता है। ठीक इसी प्रकार यहां प्रत्येक व्यक्तिको अपने धनका यज्ञ करनेका ही अधिकार है, अर्थात् जनताके हितार्थ कर्तव्यकर्म करनेमेंही खर्च करनेका उसे अधिकार है। उस धनका अपने भोगके लिए खर्च करनेका उसे अधिकार नहीं।

अग्निदेवता।

ईशोपनिषद्के अन्तिम मंत्रमें ' अग्नि ' देवताकी प्रार्थना है। यहां अग्नि शब्दसे किसका बोध लेना चाहिए इसका विचार करना चाहिए। बहुतसे लोग अग्नि शब्दसे ' यज्ञमें उपयोगमें आनेवाली आग ' ऐसा यहां समझते हैं। यद्यपि अग्नि शब्दका ऐसा अर्थ है तथापि वह यहां इष्ट नहीं है। यह सम्पूर्ण सूक्त एकही देवताका वर्णन करता है। उसी एकही देवके लिए इस सूक्तमें निम्नलिखित नाम आए हैं-(मं. १) ईश, (मं. ४) एक, तत्, एतत्, पूर्व, (मं. ५) तत्, (मं. ६-७) आत्मा, (मं. ८) स, कवि, स्वयम्भू,

(मं. ९) सत्य, (मं. १६) पूषा, ऋषि, यमः, सूर्य, (मं. १८) अग्नि ।

इन शब्दोंपर विचार करनेपर ' सः, तत्, ईश, स्वयम्भू, कविः, सत्य, पूषा, यम, अग्नि, आत्मा ' इत्यादि सब नाम एकही परमात्माके हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है। एक सूक्तमें एक देवताकेही गुण दिखानेके लिए ये सब शब्द आए हैं। ' आत्मा ' के अतिरिक्त इस सूक्तका अन्य कोई देवता आजतक किसीने भी नहीं माना है। अतः अग्नि आदि शब्द एक आत्माकेही वाचक इस सूक्तमें आए हैं यह निर्विवाद है। यही आशय निम्न ऋचा भी दर्शा रही है।—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ. १।१६४।४६)

इस मन्त्रमें एक आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं ऐसा कहा है। इस वेदमंत्रको देखनेसे अग्नि, यम आदि शब्द उस एक अद्वितीय स्वयम्भू परमात्माकेही वाचक हैं इस विषयमें शंका नहीं रहेगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ईशोपनिषद्के मंत्रोंका तुलनात्मक विचार।

वेदके किसी सूक्तका विचार करना हो तो साथ साथ तत् सदृश विचारवाले अन्य स्थानके वेदमंत्रोंका भी मनन करना अत्यंत आवश्यक है इससे वेदकी गंभीरताका ज्ञान होता है और वैदिक सिद्धांत समझनेमें भी बड़ी सहायता होती है। इसलिये ईशोपनिषद्के मंत्रोंके साथ अन्यान्य वेद मंत्रोंकी तुलना अब करते हैं—

मं. १

प्रथम मंत्रका सबसे प्रथमका कथन 'ईशा वास्यमिदं सर्वं' यह है इसका अर्थ है 'ईश इस सबमें व्याप्त है।' अथवा ईश्वरद्वारा यह सब घेरा जाने योग्य है। यहां ईशका अस्तित्व सबसे प्रथम कहा है यह ईश सबके ऊपर शासक क्यों है, किन गुणोंसे यह सबका ईश्वर हुआ है, इसका विचार करनेके समय निम्नलिखित मंत्र हमारे सम्मुख आते हैं—

यो विश्वस्य जगतो देव ईशे। (ऋ ७।१०१।२)
त्वं होक ईशिषे। (ऋ. ४।३२।७)
त्वमीशिषे वस्व एक इत्। (ऋ. ८।१४।१)

'जो संपूर्ण जगत्पर एक देव स्वामित्व करता है। तू ही एक इसका ईश है, इस सब जगद्रूपी धनका तू ही एक स्वामी है।' इसप्रकार इस ईश्वरके स्वामी होनेके विषयमें वेदमें अन्य स्थानमें कहा है। सब जगत्का यही एक देव है। यह ईशोपनिषद्का भाव ही इन मंत्रोंमें है। अब देखिये कि यह किस कारण ईश बना है—

ईशानो अप्रतिष्कुतः। (ऋ १।७।८)
विश्वस्येशान ओजसा। (८।१७।९)
ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। (ऋ ८।६।४१)

' वह ईश्वर ऐसा है कि जिसका प्रतिकार कोई नही कर सकता। वह सब जगतका ईश्वर अपने बलसे हुआ है। वह ज्ञानी सबका एक पूर्वज अपने बलसे सबका ईश हुआ है। ' इन तीन मन्त्रोंमें उसका सबसे अधिक सामर्थ्य है इसलिए अपने सामर्थ्यसे ही वह सबका ईश बना है, ऐसा स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। इसके बराबर अथवा इससे अधिक सामर्थ्य किसी अन्यका नही है, सब अन्योंकि सामर्थ्य इससे कम हैं इसलिए इस एकहीका प्रभुत्व सबपर हुआ है। सामर्थ्यसे ही प्रभुत्व अथवा स्वराज्य मिल सकता है, स्वराज्यकी प्राप्तिके लिए दूसरा उपाय नही है यह बोध यहां मिल सकता है। उपनिषदोंमें भी यही बात कही है देखिये—

क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वे उ १।१०)
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः। (श्वे. उ ४।१३)
य ईशे अस्य जगतः। (श्वे ६।१७)
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
यः सर्वान् देवानीशत ईशनीभिः। (श्वे उ. ३।१ अथर्व शिरस् ५)

' क्षर अर्थात् नाशवन्त जगत् और जीवात्मा इनपर एक परमात्मा प्रभुत्व करता है। द्विपाद और चतुष्पादका वह एकही ईश है। सब जगतका यह एकही ईश्वर है। सब लोकोंका प्रभुत्व यह अपनी शक्तियोंसे करता है। सब देवोंपर भी यह अपनी शक्तियोंसे प्रभुत्व करता है। ' इन उपनिषद्वचनोंमें ईश्वरके पास ईशन शक्तियां है जिस कारण वह सबपर स्वामित्व करता है, यह बात कही है। यह तो शक्तिका प्रभाव हुआ। परन्तु केवल शक्ति होनेसे ही कार्य नहीं चल सकता, क्योंकि बलके आधिक्यसे किसीने किसीपर अधिकार जमा भी दिया, तो भी उसके वशमें सदाके लिए सबका रहना कठिन हो जाता है। यदि उसने सबको वशमें किया और उन सबकी इच्छाओंको भी वशमें किया तो भी वह सदाके लिये स्वामी माना जा सकता है। परमेश्वरका सबपर प्रभुत्व इसी कारण है कि उसने सबकी इच्छाओंको वशमें किया हुआ है अर्थात् सबको संतोष देकर वशमें किया है, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥ (ऋ. १।११।८)

शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम् ।
ईशानं राय ईमहे ॥ (ऋ. ६।५४।८)

ईशान इमा भुवनानि वीयसे ॥ (ऋ ९।८६।३७)

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् ॥
(ऋ. १।८७।४)

'इस ईश्वरके हजारो उपकार हैं, नही नहीं उससे भी उसके अधिक उपकार हैं, इसलिए अपने बलसे प्रभु बने हुए उस ईश्वरकी स्तुति हम करते हैं। वह हमारी प्रार्थना सुनता है, हमारा पोषण करता है, वह अधिक प्रभावशाली है और उसका अक्षय धन है, इसलिए उन ईश्वरकी स्तुति हम अपने कल्याणके लिये करते हैं। इन सब भुवनोंकी प्रगति वह करता है। उस स्थावर जगमके ईशकी प्रार्थना हम अपनी रक्षाके लिए करते हैं।' इन मंत्रभागोंमें उसके वशमें आनन्दसे सब स्थिरचर जगत् क्यों रहा है, इसके हेतु दिये हैं। स्थिरचर जगत्पर उसके अनंत उपकार हैं, सबका पोषण उसके सामर्थ्यसे होता है, किसीकी उत्पत्तिमें किसी भी प्रकारकी रुकावट नहीं होती, सबकी उत्तम प्रकारसे रक्षाका कार्य वही करता है, सबको धनादि पदार्थ देनेपर भी उसका कोश जैसाका वैसाही भरा रहता है इत्यादि गुण उसमें होनेसे उसके अधिकारके अंदर सब आनंदसे रहते हैं। अर्थात् जो राजा अपनी प्रजाका शासन इस प्रकार करेगा, उसीके वशमें सब प्रजा रहेगी अन्यथा जो राजा केवल पाशविक बलपर निर्भर रहता हुआ प्रजाका शासन क्रूरताके साथ करेगा, प्रजाके मनोंको आकर्षित करनेका यत्न न करेगा और उनकी वृद्धि करनेका विचारतक नहीं करेगा, उसका राज्यशासन चिरकालतक नहीं रहेगा। इन मंत्र भागोंसे यह बोध मिल सकता है। इन गुणोंसे ईश्वरका शासन सबपर हुआ है।

'ईशा वास्यमिदं सर्वं' इस मंत्रभागके साथ इन मंत्रोंका विचार

करनेसे दूसरोंपर अधिकार चलानेके विषयकी वैदिक कल्पना अधिक खुल जाती है और वेदका आशय मनमें अधिक स्पष्टताके साथ आ सकता है।

दान ।

प्रथम मंत्रमें दूसरा कथन 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह है। 'दानसे भोग कर।' अर्थात् दूसरोंका हित करनेके पश्चात् अपने लिये भोग कर, अपने भोगके लिये दूसरोंके गलोंपर छुरा न चला। दूसरोंके लिए अपना यज्ञ कर। इस विषयमें अनेक वार पहिले भी कहा है। अनासक्ति रखकर व्यवहार करनेका भाव इस विधानमें है। दानके विषयमें ऋग्वेदमें एक सूक्त ही है और अन्य सूक्तोंमें अनेक वार दानकी प्रशंसा की है। प्रत्यक्ष परमेश्वर सहस्रों प्रकारके दान करता है ऐसे भी अनेक मंत्र हैं अर्थात् उसका अनुकरण करनेकी इच्छा हो गई तो भी दान करना चाहिए। ईश्वरत्वके गुणोंमें त्याग और दान एक विशेष गुण है इस विषयमें वेदके आदेश स्पष्ट हैं। यहां उदाहरणके लिये दान सूक्तके एक दो मंत्र देते हैं—

> उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युताऽपृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥
> स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
> अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ २ ॥
> न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
> अप स्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥
> पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
> ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥
> मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
> नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥
>
> (ऋ १०।११७)

'दान देनेवालेका धन निश्चयसे कम नहीं होता। और जो (अपृणन्) दान न देनेवाला होता है उसको सुख देनेवाला कोई नहीं मिलता॥ १॥

(कृशाय) दुर्बल होनेके कारण अन्नकी इच्छा करके (चरते) भ्रमण करनेवाला घरघरमें भीख मांगनेकी इच्छासे घूमता है, उसको जो मनुष्य अन्न देता है (स इत् भोज.) वही सच्चा भोजन करता है। उसके लिये पर्याप्त धन यज्ञके लिये मिलता है और वह (अ-परीषु) कठिन प्रसंगोंमें सहायक मित्र भी प्राप्त करता है ॥३॥ अन्नकी इच्छा करनेवाले भले मनुष्यको भी जो समयपर दान नही देता, वह (न स सखा) वह सच्चा मित्र नही है। उससे (अप-प्रेयात्) दूर भागना चाहिये, उसका घर (न ओक) सच्चा घर नही है। इसलिये दूसरे दाताके पास जाना योग्य है॥ ४॥ (तव्यान्) बलवान् (नाधमानाय पृणीयात्) सहायताकी इच्छा करनेवालेके लिये अवश्य सहायता देवे। अपने जीवनका (द्राघीयांस पथा) अतिदीर्घ मार्ग अपने लिये काटना है, यह मनमें धारण करके दान देवे। क्योंकि (रथ्येव चक्रा) रथके चक्रके समान एकसे दूसरेके पास संपत्ति जाती है॥ ५॥ (अप्रचेताः) दुष्टबुद्धियुक्त दान न देनेवाला मनुष्य (अन्न मोघं विन्दते) अन्नकोही व्यर्थ प्राप्त करता है। मैं सत्य कहता हूं कि वह अन्न उसका वधही है। जो श्रेष्ठ मनवालेका पोषण नही करता और मित्रकी सहायता नही करता, वह (केवल-आदी) केवल स्वयं खानेवाला (केवल-अघ) केवल पापरूप बनता है॥ ६॥

इस सूक्तमें दानका महत्व वर्णन किया है। इससे अधिक दानका महत्व बताना अशक्य है। पूर्वोक्त षष्ठ मंत्र कहता है कि दान न देनेवाला और अपने लिये ही भोग करनेवाला पापी होता है। इस पापसे बचनेके लिये ही ईशोपनिषद्के मंत्रमें ' त्यक्तेन भुञ्जीथाः ' अर्थात् ' दान करके भोगकर ' ऐसा कहा है।

मनुष्यके अन्दरका दानभाव मनुष्यकी कर्मशक्तिको सन्मार्गसे चलाता है। दानभाव मनमें न रहा तो मनुष्यका राक्षस बन जाता है। मनुष्यका देव बननेके लिये मनुष्यको दानभाव अपने अन्दर बढाना चाहिये। आगे द्वितीय मंत्रमें सत्कर्मका उपदेश होना है, उसके लिये अन्तःकरणकी आवश्यक तैयारी करनेके लिये इस मंत्रमें दानसे भोग करनेकी आज्ञा दी गई है। (मा गृध)

लोभ न कर, (कस्य स्विद्धनं) किसका भला धन है ? ये वाक्य भी मनुष्यका लोभ धनपर न रहे, मनुष्य दान देनेवाला बने, इस भावके ही सूचक है । इस प्रकार प्रथम मंत्रकी अन्य मंत्रोंके साथ तुलना करनेके पश्चात् द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं—

मंत्र २

द्वितीय मंत्रका उपदेश यह है कि ' मनुष्य कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे, उन्नतिका यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं । मनुष्यको सत्कर्मका लेप नहीं लगता । ' मनुष्यको कर्म करनेके लिये क्यों उपदेश किया है ? इसके कारणका विचार करनेसे पता लगता है कि कर्म करना इसका स्वभाव ही है । मनुष्य प्रयत्न करे या न करे, इच्छासे करे अथवा अनिच्छासे करे, इससे कर्म होते ही हैं । इसीलिये इसको सत्कर्म करनेका उपदेश किया है । कर्म करना इसका स्वभावही होनेके कारण इसके प्रयत्नसे शुभ कर्म ही हों और अशुभ कर्म न हों, इस बातके लिये प्रयत्न होने चाहिये । अन्यथा अशुभ कर्म होंगे और अवनति होगी । मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका न होता, तो उसको यह उपदेश देनेकी आवश्यकताही न होती। जिसप्रकार एक यंत्र गति उत्पन्न कर रहा है और वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है । तो उसके स्वामीको उचित है कि वह उसकी गतिका उपयोग शुभ कार्यमेंही करनेका यत्न करे । इसीप्रकार यहां है । मनुष्य, आत्मा, बुद्धि, मन, वाणी, अन्य इंद्रिया और शरीर आदि साधनोंसे प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है और कर्महीन नहीं रहता । ऐसी अवस्थामें इसकी कर्मशक्तिसे सत्कर्मही हो और कुकर्म न हो इस विषयमें सावधानीसे प्रयत्न होने चाहिये । इसी कार्यके लिये संपूर्ण यजुर्वेदका उपदेश है ।

इसी ईश उपनिषद्में मनुष्यका नाम ' क्रतु ' है । क्रतुका अर्थ कर्म है । मनुष्य स्वयं कर्मरूप है, यह बात इस शब्दने बता दी है । इसकी आयु १०० वर्षोंकी है, और प्रत्येक वर्ष एक एक क्रतुके लिये है, इसप्रकार मनुष्य अपनी

पूर्ण आयुमें १०० क्रतु कर सकता है, इसलिये इसी मनुष्यको ' शत+क्रतु ' कहते हैं। सौ वर्ष सत्कर्म करनेमें व्यतीत करनेकी उच्च कल्पना यहां कही है। आयुका कोई भी भाग कुकर्ममें व्यय खर्च नहीं होना चाहिये, यह सूचना यहां मिलती है। इस विषयमें निम्नलिखित वेदमंत्र देखने योग्य हैं—

य प्रथमः कर्मकृत्याय जातः। (अथर्व ४।२४।६)
देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ॥ (अ ६।२३।३)

' पहिला यह कर्म करनेके लिये ही हुआ है। सूर्यदेवका उदय होते ही सब मनुष्य कर्म करनेका प्रारंभ करें। ' इत्यादि सामान्य आज्ञाएं मनुष्यको कर्मकी प्रेरणा करनेके लिये ही दी हैं। इसी प्रकार अपने सब अंगों और अवयवोंको उत्तम सत्कार्यमें लगानेकी प्रतिज्ञा निम्नलिखित मंत्रमें है वह यहां देखने योग्य है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
(वा य २५।२१)

'हम कानोंसे उत्तम वचन सुनें, आंखोंसे उत्तम पदार्थ देखें, और जबतक आयु रहे, तबतक स्थिर अंगोंसे देवोंका हित करें।' अर्थात् प्रत्येक अवयवसे शुभ कर्म ही करेंगे और कभी अशुभ कर्म नहीं करेंगे। यह वैदिक प्रतिज्ञा कर्मका विचार करनेके समय मनन करने योग्य है। इस प्रतिज्ञाका पालन होनेसे मनुष्यका सुधार निःसन्देह होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि इसमें *प्रत्येक अवयवसे उत्तम शुभ कर्म करानेका दृढ संकल्प व्यक्त किया है।*

मंत्र ३

तीसरे मंत्रमें ' अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोकमें आत्मघातकी लोग जाते हैं ' ऐसा कहा है। यहां असुर्य लोकका विचार करनेके समय निम्नलिखित उपनिषद्वचन सबसे प्रथम देखना चाहिये—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधो जनाः ॥
(बृह उ ४।४।११)

' जहां आनन्द नहीं है ऐसे लोग अन्धतमसे व्याप्त हैं उन लोगोंमें अविद्वान् और अज्ञानी लोग जाते हैं। ' इस उपनिषद्वचनमें ' असुर्या नाम ' के स्थानपर ' अनन्दा नाम ' शब्द है और ' आत्महनो जनाः ' के स्थान पर ' अविद्वांसोऽबुधो जनाः ' ये शब्द हैं। इन शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ' आत्मघातकी लोग ' वे ही हैं कि जो अविद्वान् और अज्ञानी हैं। और ' असुर्य ' लोक वे हैं कि जो ' आनन्दरहित हैं ' और जहां केवल कष्ट और दुःख है। उपनिषद्वचनोंकी तुलना करनेसे इसप्रकार अर्थ खुल जाता है। अब हम वेदमन्त्रोंके प्रमाणसे ' असुर्य ' शब्दका अर्थ निश्चित करते हैं। असुर्य शब्दके विषयमें इससे पूर्व मन्त्रकी टिप्पणीमें और उसके विवरणके प्रसंगमें बहुत कुछ लिखा गया है अब यहां वेदमन्त्रोंमें ' असुर और असुर्य ' ये शब्द किस अर्थमें आये हैं इसका विचार करना है। इसलिए ऋग्वेदके एक दो मंत्र देखिये—

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥
(ऋ० १।३५।१०)

' सुवर्णके आभूषण हाथमें धारण करनेवाला, उत्तम नेता, उत्तम स्तुति करनेयोग्य, आत्मिक बलसे युक्त (असु+र) जीवन देनेवाला देव (अर्वाङ् यातु) हमारे पास आ जावे (रक्षस अपसेधन्) राक्षसोंका नाश करनेवाला और यातुधानोंको दूर करनेवाला प्रतिदिन स्तुतिको ग्रहण करनेवाला यह देव है। ' इस मन्त्रमें राक्षसोंका नाश करनेवाला देव ' असुर ' शब्दसे यहां वर्णित हुआ है। इससे सिद्ध है कि यह असुर शब्द परमेश्वरका यहां वाचक है। तथा और देखिये—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः ॥
(ऋ० २।२७।१०)

'हे असुर वरुण ! जो देव हैं और जो मर्त्य हैं उन सबका तू राजा है।' इस मंत्रमें देवोंके ज्येष्ठ देवका नाम असुर कहा है। इस प्रकार असुर शब्द परमात्माका वाचक है, क्योंकि वही प्राणशक्तिका देनेवाला है, वही हमें जीवन देता है। इस असुर देवका अर्थात् परमात्माका जो सामर्थ्य है। वह असुर्य है। अब इस असुर्यके प्रयोग मंत्रोंमें देखिये—

धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि ॥
(ऋ. २।२७।४)

'सब भुवनोंके रक्षक और जगत्में रहनेवाले आदित्य देव इस (असुर्य) प्राणोंके बलकी रक्षण करते हुए धारण करते हैं।' इस मंत्रमें परमात्माके इस असुर्य बलका धारण जगद्रक्षक आदित्यदेव करते हैं, ऐसा कहा है। और देखिये—

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्।
(ऋ. २।३३।९)

'यह भुवनोंका स्वामी ईश्वर है, इसकी (असुर्य) शक्ति इससे कोई भी छीन नहीं सकता अर्थात् यह परमात्माकी निजशक्ति होनेसे उसके पास सदा रहती है और वह इस शक्तिसे सबको जीवन प्रदान करता है। अब स्वयं परमात्मा कहता है—

अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त।
(ऋ. ४।४२।२)

'मैं राजा वरुण हूं मेरे लिये ही वे असुर्य बल सबसे पहिले धारण किये गये थे।' अर्थात् वे सब बल परमात्माके ही हैं और उनका सब अन्य देव धारण करते हैं और उस प्राणके बलसे बलवान् होते हैं। तथा और देखिये—

सत्रा वाजानामभवो विभक्ता यद्देवेषु धारयथा असुर्यम् ॥
(ऋ. ६।३६।१)

' यह ईश्वर अन्न धन अथवा बल सबको देता है और सूर्यादि देवोंके अन्दर अपना बल धारण करता है । ' इस मंत्रमें कहा है कि परमेश्वर अपना बल संपूर्ण देवोंमें स्थापित करता है, अर्थात् इस बलसे सब देव बलवान् होते हुए अपना कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। सूर्यके अन्दर वही बल प्रकाशके रूपसे दिखाई देता है । वायुमें गति और अग्निमें दाहकता आदि गुण उसीके हैं, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंमें अन्यान्य शक्तियां उसीके कारण दिखाई देती हैं। इसी कारण कहा है कि—

महा देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ।
(ऋ. ८।१०१।१२)

' संपूर्ण देवोंका यह मुखिया है, इसका कारण यह है कि इसमें (असुर्य) जीवन देनेकी शक्ति है और इसमें (महना) महत्त्व भी विशेष है और इसके अन्दर न दबनेवाला व्यापक तेज है । ' इसमें भी संपूर्ण देवोंका मुखिया यह असुर्य शक्तिवाला परमेश्वर है ऐसा स्पष्ट कहा है । अर्थात् परमेश्वरकी विशाल सत्ता इस असुर्य शक्तिके कारणही सबके ऊपर हुई है । अन्य देवोंमें असुर्य शक्ति नहीं है और केवल इस परमेश्वरमें ही यह शक्ति है, इस कारण परमेश्वरका प्रभुत्व सबके ऊपर हुआ है । ये असुर्य बल कितने प्रकारके हैं इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र अवश्य देखनेयोग्य है—

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमंग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥
(ऋ० १०.५४.४)

' तेरे न दबनेवाले चार असुर्य बल हैं जिनसे तू विविध कर्म करता है। ' इस ईश्वरकी यह अदम्य शक्ति है इसलिये ही इस जगत्‌के अन्दर चलनेवाले अनंत कर्म वह कर सकता है । और इसी कारण वह सबसे श्रेष्ठ है ।

' असुर्य ' शब्द जिन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुआ है ऐसे मंत्र अनेक हैं उनमेंसे कुछ मंत्र यहां दिये हैं । इनको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि ' असुर्य '

शब्दका अर्थ 'जीवन शक्ति देनेवाले ईश्वरका अदम्य बल' ऐसा है। वेदमे इस असुर्य शब्दका दूसरा अर्थ नही है। ईशोपनिषद्के इस तृतीय मत्रमे जो 'असुर्य लोक' शब्द है उसमे यह अर्थ स्वीकृत किया जाय तो 'जीवनशक्तिसे, युक्त लोक' ऐसा अर्थ उस शब्दका बनेगा। जीवनशक्तिसे युक्त तो सभी लोग हैं, सब प्राणी तो है ही, विशेषत सब मनुष्य इस जीवनशक्तिसे युक्त हैं। अन्योका विचार हम यहा छोड देते हैं। और केवल मनुष्योका ही विचार करते हैं। सब मनुष्य यदि इस असुर्य शक्तिसे युक्त हैं तो उनमे भले और बुरे सभी लोग आगये, यह स्पष्टही है। जिसप्रकार यह असुर्य बल सज्जनोंमें है उसी प्रकार दुर्जनोमे भी है। यह पढकर पाठक आश्चर्यसे चकित होंगे, परन्तु इतना आश्चर्य इसमें नहीं है क्योंकि यह (असु-र्य) प्राणोका बल जैसा सज्जनोके शरीरोमें कार्य कर रहा है उसी प्रकार दुर्जनोके शरीरोमें भी कार्य कर रहा है। क्या सज्जनोके शरीरमें ही प्राणशक्ति है और दुर्जनोंके शरीरमें नही ? ऐसा कोई नही कह सकता। प्राणिमात्रमें अदम्य प्राणशक्ति है। यह प्राणशक्ति आत्माकी ही शक्ति है। 'असु' शब्द प्राणवाचक है। 'असु-र' शब्द प्राणशक्ति देनेवाले आत्माका वाचक और असुर्य शब्द उसके अदम्य बलका वाचक है। इससे स्पष्ट विदित होगा कि आत्माकी असुर्य शक्ति प्राणिमात्रमें है। यह शक्ति सज्जन और दुर्जनमें समानतया व्याप्त है। दोनों स्थानोपर वह कार्य कर रही है।

ऋग्वेदादि चारो वेदोंमे 'असुर्य' शब्दका यही अर्थ है और दूसरा कोई अर्थ नही है। ऐसी अवस्थामे यजुर्वेदके ईशोपनिषद् (अ. ४०) मे आये हुए 'असुर्य' शब्दका भिन्न अर्थ मानना कठिन है। वेदमे किसी एक स्थानपर आये 'असुर्य' शब्दका भी भिन्न अर्थ होता, तो ईशोपनिषद्के 'असुर्य' शब्दका अर्थ भी भिन्न मानना सभव होता, परंतु वेदके असुर्य शब्दवाले संपूर्ण मत्र हमने देखे हैं। उनमें एकका भी अर्थ इससे भिन्न नहीं है, इसलिये ईशोपनिषद्के इस 'असुर्य' शब्दका अर्थ 'आत्माकी जीवनशक्ति' ऐसा ही मानना उचित है।

यह अर्थ लेनेपर भी बुरे और भले लोगोंकी व्यवस्था उत्तम प्रकार हो जाती है, '*अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोक*' और '*आत्मप्रकाशसे प्रकाशित असुर्य लोक*' ऐसे दो भेद, इसके माननेसे इस शब्दका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस विषयमें अधिक विवेचन पूर्व स्थानमें लिखाही है। इसलिये *अब इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।*

मंत्र ४

'वह आत्मा एक, अद्वितीय, सबमें पूर्ण, स्थिर, अत्यंत वेगवान्, ज्ञानी और मनसे भी वेगवान् है। वह गतिवाले अन्य पदार्थोंके भी आगे पहुंचता है और उसीके आधारसे माताके गर्भमें आनेवाला जीव कर्मोंको धारण करता है।'

इस मंत्रमें आत्माके गुण वर्णन किये हैं वे सब प्रसिद्ध हैं और उपनिषदादि सब ग्रन्थोंमें वे आगये हैं, इसलिये उनके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि इस आत्माके एक होनेके विषयमें यहां कुछ लिखना आवश्यक है—

प्रथम मंत्रमें 'ईश' शब्द एकवचनान्त है, इसलिये ईश एकही है यह बात सिद्ध होती है, तथापि अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां इस मंत्रमें 'एक' शब्द रखकर उसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किया है, इसके साथ निम्नलिखित मंत्र देखिये—

> न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥
> न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥
> नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥
> तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥
> (अथर्व १३।४।१६–१८,२०)

'यह ईश्वर दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, सातवां, आठवां, नववां, दसवां नहीं कहा जा सकता, वह बड़ा भारी बलवाला है, वह एकही है, एकही सर्वत्र घेरनेवाला, केवल एकही है।'

ईश्वरके एक होनेके विषयमें कितना बल इस मंत्रमें दिया गया है, उसका अवलोकन पाठक करें। ईश्वरके निःसदेह एक होनेके विषयमें इस मंत्रको देखनेके पश्चात् कोई संदेह नहीं रह सकता। तथापि उपनिषदोंके कुछ वचन यहां देखिये—

आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्। (ऐ. उ. १।१)
कत्येव देवाः...एक एव ॥ (बृ. उ. ३।९।१)
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः ॥ (श्वे. उ. ६।११)
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ. ५।१०।११)

' प्रारंभमें एकही आत्मा था ॥ कितने देव हैं ?...केवल एकही देव है ॥ एक देव सब भूतोंमें व्याप्त और गुप्त है ॥ सब भूतोंका अन्तरात्मा एकही है, वह प्रत्येक रूपके अंदर है और बाहर भी है ॥ '

इन सब उपनिषद्वचनोंमें भी परमात्माके एक होनेके विषयमें स्पष्ट शब्दोंद्वारा कहा है। यह सब इसीलिये कहा है कि जिससे ईश्वरके एक होनेके विषयमें किसीको थोडासा भी संदेह न रहे। सब एकही ईश्वरको मानें और उसीकी उपासना करके उन्नतिका साधन करें।

इसी चतुर्थ मंत्रमें ' मातरि-श्वा ' शब्द है। ' माताके अन्दर रहनेवाला ' यह इसका अर्थ है। पूर्व देह जिसका छूट गया है और जिसका नया देह बन रहा है, वह जीवात्मा माताके गर्भमें रहता है, यह बात सब जानतेही हैं। वही अर्थ यहां अपेक्षित है। द्वितीय मंत्रमें ' सौ वर्षतक प्रशस्त कर्म करो ' ऐसा उपदेश है। इस उपदेशानुसार किसीने कर्म किये, परंतु अन्तिम समयके कर्मोंका फल प्राप्त होनेके पूर्वही उसका देहान्त हो गया, तो वे किये हुए कर्म कहां जाएंगे ? इस शंकाका निराकरण करनेके लिये, इस मंत्रमें कहा है कि ' माताके गर्भमें रहनेवाला जीव भी संस्काररूपसे कर्मोंका धारण करता है। ' अर्थात् किये हुए कर्म विफल नहीं होते हैं, परन्तु प्रत्येक किये हुए बुरे

भले कर्मोंका बुरा भला भोग अवश्य मिलता है। वेदने यह बडी भारी महत्त्वकी बात यहां कही है। इसको जानकर पाठक उत्तम कर्म करें और स्मरण रखें कि अपना किया हुआ कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता।

इस मंत्रमें ' मातरि-श्वा ' शब्द विशेष महत्त्वका है इसलिये इस शब्दका आशय प्रकट करनेवाले कुछ मंत्र यहां देते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ. १।१६४।४६, अ. ९।१५।२८)

' एकही आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं। ' इनमें ' सुपर्ण ' शब्द है जो जीवात्मा परमात्माका वाचक प्रसिद्ध है। ' द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ' इस मंत्रमें सुपर्ण शब्द जीवात्माका भी वाचक है। इन्द्र शब्द परमात्माका वाचक है इसमें किसीको संदेह नहीं है। यह इन्द्र शब्द जीवात्माका भी वाचक है और इसीसे ' इन्द्रिय ' शब्द ' इन्द्रशक्तिका ' वाचक बनता है। यदि इन्द्रियमें इन्द्रकी शक्ति है तो निःसंदेह इन्द्रियके पीछे इन्द्र स्वयं है और यह इन्द्र जीवात्माही है। इसी प्रकार ' मातरिश्वा ' शब्द भी जीवात्माका वाचक है। जिसके वाचक ' सुपर्ण, गरुत्मान्, इन्द्र ' ये शब्द हैं, उसीका वाचक ' मातरिश्वा ' शब्द है यह ऊपर दिये हुए मंत्रसे सिद्ध होता है, यह बात इस मंत्रका विचार करनेवालेको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक यहां ' मातरिश्वा ' शब्द जीवात्माका वाचक होनेका अनुमान करें। और देखिए—

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ॥
(अथर्व. ११।४।१५)

' प्राणको मातरिश्वा कहते हैं और इस वायुको प्राण भी कहते हैं। ' इस मंत्रमें प्राणका नाम मातरिश्वा कहा है। प्राण भी जीवात्माकी सहचारिणी जीवन-शक्ति है। इन दोनोंके विषयका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखिए—

मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे। (ऋ. ३।५।१०)

' यह मातरिश्वा बुद्धिके अदर रहनेवाला प्रत्यक्ष अग्नि ही है। ' हमारी हामे अर्थात् बुद्धिमें अथवा हृदयके अन्दर रहनेवाला अग्नि यहां आत्माही । यह मत्र भी इस मातरिश्वा शब्दका अर्थ जीवात्मा है यही बात सिद्ध रता है। और देखिए—

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा॥ (अथर्व. १३।३।१९)

' सत्यके तन्तुको मनसे मापनेवाला मातरिश्वा सब दिशाओंको पवित्र रता है या चलाता है। ' यहा सत्यके तन्तुका अर्थ 'परमात्मा' है जिसको श्रात्मा भी कहते हैं। इस सूत्रात्माको जीवात्माही अपने मनसे देखता है ौर स्वय पवित्र होकर सब दिशाओंको भी पवित्र करता है। इसके विषयमे ौर एक मत्र देखिये—

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते ।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि॥
(ऋ ३।२९।११)

'(तनू-न-पात्) शरीरको न गिरानेवाला (मातरि-श्वा) माताके गर्भमे हनेवाला जीवात्मा ही (गर्भ उच्यते । गर्भ है ऐसा कहा जाता है। यही असु-र) असु नामक जीवनशक्तिका देनेवाला है, उस समय (नर-आशंस) ब लोग इसीकी प्रशसा करते हैं (यत विजायते) जब यह उत्पन्न होता है।'

इस मत्रभागमे इस मातरिश्वाका नाम ' तनू-न-पात ' कहा है। 'शरीरको । गिरानेवाला ' यह इसका अर्थ है। जबतक शरीरमे यह रहता है तबतक ह शरीर गिरता नहीं, और जब यह इस शरीरको छोड देता है तब यह रीर ऐसा गिर जाता है कि फिर उठ नही सकता। यह सब वर्णन देखनेसे ातरिश्वा शब्द जीवात्माका वाचक स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके अन्य अर्थ हुत हैं, परंतु ईशोपनिषद्मे 'मातरिश्वा' पद माताके गर्भमें स्थित जीवात्माका ाचक प्रतीत होता है। पाठक इन मत्रोंका विचार इस मत्रके साथ करें

और आत्माके गुण जानकर उनसे सूचित होनेवाला आत्मोन्नतिका मार्ग आक्रमण करनेका यत्न करे ।

मंत्र ५ से ७

' आत्मा समीप और दूर, अन्दर और बाहर सर्वत्र है। (५) जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह किसीका तिरस्कार नहीं करता। (६) जिस समय आत्माही सब भूत प्रतीत होने लगा उस समय सर्वत्र एकत्व देखनेवालेको शोक और मोह नहीं होते। (७) ' यह इन तीन मंत्रोंका भाव है। इसमें आत्मा शब्द महत्त्वपूर्ण है। इन आत्माके गुणोंका विचार वैदिक मंत्रोंसे अब करते हैं—

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा ।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्योऽभूत् ॥
(ऋ. १।७३।२)

' जो सत्य विचारवाला सविता देव है वह अपनी कर्मशक्तिद्वारा संपूर्ण दुष्कृत्योंसे रक्षा करता है। वह अत्यंत प्रशंसनीय सत्यनिष्ठ देव आत्माके समान ही सेवनीय है। ' इस मंत्रमें कहा है कि जिस प्रकार आत्मा सेवनीय है, उसी प्रकार सविता देव भी है। अर्थात् आत्माकी परिचर्या अवश्यही करनी चाहिये। कई लोग बाह्य पदार्थोंकी सेवा करते हैं, कई अपने शरीरकी, और कई लोग अपने इंद्रियोंकी सेवामें रमते हैं। कई अपनी बुद्धिकी वृद्धि करते हैं और कई अपने मनकी तर्कना शक्ति बढाते हैं। इतने सब प्रयत्न करते हुए भी लोग अपने आत्माकी उतनी सेवा नहीं करते, कि जितनी आत्मासे भिन्न अन्य पदार्थोंकी किया करते हैं। यह बडा भारी आश्चर्य है। इसलिये इस मंत्रमें सूचित किया है कि आत्माही प्रथम उपास्य और सेवनीय अथवा संभजनीय है। इसलिये कहा है—

आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः । (ऋ ९।२।१०)

' आत्माही यज्ञमें सबसे पूर्व उपास्य है। ' इसका अर्थ यह है कि आत्माके

हितसाधन करनेका विचार मनुष्यको सबसे प्रथम करना चाहिए, और उससे भिन्न अन्य पदार्थोका सुधार करनेका विचार उसके पश्चात करना चाहिये। प्रायः लोग बाह्य पदार्थोके सुधारका यत्न करते हैं, पर आत्मसुधारका कम विचार करते हैं। इस कारण मनुष्यकी उन्नति जितनी होनी चाहिये उतनी नही होती। पाठक इसका विचार करेंगे तो उनको अपने सुधारके कार्यमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा सब देवोका भी आत्मा है इस विषयमे निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं० ॥ (ऋ १०।१६८।४)

'यह देवोका आत्मा, भुवनोका गर्भ है। यह अपनी इच्छाके अनुरूप चलता है। इसका रूप नही दिखाई देता है केवल इसका घोष सुनाई देता है०।' इस मन्त्रमें वायुके वर्णनसे आत्माका वर्णन किया है। जिस प्रकार वायुका शब्द सुनाई देता है परंतु रूप नही दीखता, उसी प्रकार आत्माका रूप नही दीखता, परंतु उसके कार्य दिखाई देते हैं। यह सबमें रहकर सबको प्रेरणा देनेवाला एक आत्मदेव सब देवोका भी आत्मा है। शरीरमें सब इंद्रियगण देवताओंके अंश हैं, उनको जीवन देनेवाला यह आत्मा है, और इन सब इंद्रियोंकी उत्पत्ति करनेवाला किंवा अपनी शक्तिको विविध इंद्रियोमे विविध कार्य करनेकी योग्य स्थितिमे रखनेवाला यह आत्मा है। पाठकोको चाहिये कि वे अपने आत्माकी यह शक्ति अपने अंदर अनुभव करे और 'मैं आत्मा हू' ऐसा समझकर, मैं अपनी शक्ति जिस इंद्रियमे चाहे रखूंगा और जिसमेसे चाहे वापिस ले लूंगा ऐसा निश्चय करके अपनी शक्तिपर इस प्रकारका प्रभुत्व सपादन करें। जो आत्माकी शक्ति जिधर चाहे उधर भटक रही है उस शक्तिको अपनी इच्छानुसार सत्कर्ममे लगानेका नाम संयम है। यह इस अनुष्ठानसे साध्य हो सकता है। मैं इस संयम-शक्तिसे कदापि दूर न होऊ ऐसा संकल्प करनेकी सूचना निम्नलिखित मंत्र दे रहा है, उसको अब देखिये—

माऽहं प्राणेन माऽऽत्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य विराधिषि।
(अथर्व ३।२९।८)

'मैं आत्मा, प्राण और प्रज्ञा इन शक्तियोंसे पृथक् न होऊं।' अर्थात् मेरे पास ये शक्तियां उत्तम अवस्थामें रहें और मेरी उन्नतिकी साधनामें इनसे सहायता प्राप्त हो। कभी ऐसा न हो कि अल्प आयुमें प्राण चला जावे, प्रज्ञा नष्ट हो जावे और आत्मा भी हीन बल होकर गिर जावे। कभी इस प्रकारकी संभावना उत्पन्न न हो मनुष्यको प्रयत्न करके आत्मिक, प्राणसबंधी और सुप्रज्ञानिर्माण विषयक बल अपने अंदर स्थिर और स्वाधीन करना चाहिये। केवल बल बढनेसे कार्य नहीं होता परन्तु उस बलपर अपना प्रभुत्व होना चाहिये। इसप्रकार अपनी शक्ति बढते बढते सर्वात्मभावकी स्थिति प्राप्त होती है जिसका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें पाठक देखें—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ (अथर्व ५।९।७)

'सूर्य मेरा चक्षु है, वायु मेरा प्राण है, पृथिवी मेरा शरीर है और अन्तरिक्ष मेरा आत्मा है। मैं (अ-स्तृत) कभी न मरनेवाला हूं। ऐसा मैं अपने आपको द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये समर्पित करता हूं।' परमात्मामें अपने आपको लीन करनेसे अपने अन्दर सर्वात्मभाव आ जाता है, इस अवस्थामें यह ज्ञानी अपने आत्माको सर्वात्मरूप देखता है। उस समय वह कहता है कि मेरी आंख सूर्य है और पृथ्वी शरीर है तथा वायु प्राण है। अपने प्राकृतिक अनुभवकी दशामें भी यह सत्य है। क्योंकि सूर्यके बिना हमारे नेत्र क्या कर सकते हैं? हमारे नेत्र देखते हैं तो वे सूर्यकी सहायतासे ही देखते हैं। इसीप्रकार हमारा शरीर भी पार्थिव ही है। यह तो स्थूल अर्थमें सत्यही है। परन्तु यहां सर्वात्मभावकी दृष्टिसे कहा है। सर्वात्मभावकी दृष्टिसे ही जब जीवात्मा परमात्मामें लीन होता है तब वह साधक अपने आपको अपने शरीरसे भिन्न और महान् सूत्रात्मासे संयुक्त अनुभव करता है। इस समय इसका रक्षण इसके मातापिता नहीं करते प्रत्युत जगत्के मातापिता द्यावापृथिवी उसके रक्षक बनते हैं। वह भी अपने आपको उनके सम्मुख रखे

देता है और उनसे सुरक्षित होता हुआ अपने आपको अमर अनुभव करता है। इसी समय साधकका भाग्य खुल जाता है और उसमें दिव्य शक्तिका आविर्भाव हो जाता है। दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिये उनके दुःखोंको अपने सिरपर लेता है और अपना सुख दूसरोंकी शांति बढानेके लिये उनके लिये अर्पण करता है तथा अपने अन्दर सुखदुःखोंको सम देखकर सुख-दुःख आनेपर हर्ष-शोक नहीं करता। इस प्रकार इस सर्वात्मभावकी सिद्धि है।

यह आत्मा अमर है और शरीर नाशवन है, ऐसा माननेसे शरीरको किसी समय आत्मा छोडता है और पुनः धारण करता है, यह बात स्वयं सिद्ध होती है। इसीलिये साधक आत्मा ऐसी प्रार्थना करता है—

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा॥
(अथर्व. ६।५३।२)
पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा॥ (अथर्व. ७।६७।१)

'मेरी चक्षु, प्राण और आत्मा मुझे पुनः प्राप्त हों, सब इंद्रियाँ मुझे पुनः प्राप्त हों। न दबनेवाला, शरीररक्षक, विश्वका नेता, आत्मा मेरे अन्दर है' इत्यादि मंत्र इंद्रियादिकोंकी पुनः पुनः प्राप्ति होती है, इस बातको बता रहे हैं। इंद्रियादिकोंकी पुनः पुनः प्राप्ति होनेका अर्थ पुनर्जन्मका होनाही है। जिस प्रकार इस जन्ममें सब इंद्रियादिक यथायोग्य हैं उसी प्रकार अगले जन्ममें प्राप्त हों और मैं उनकी सहायतासे उन्नतिको प्राप्त करूं। यह आशय इस प्रार्थनाका है।

इस रीतिसे पुनर्जन्ममें वह चलता रहता है। इस मृत्युभयसे दूर होनेका उपाय है या नहीं, अथवा जन्ममृत्युका दुःख इसको बराबर ही भोगते रहना चाहिये? इस शंकाका निरसन यह मंत्र करता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्व. १०।८।४४)

'परमात्मा आप्तकाम, स्वतृप्त, धीर, अमर, स्वयम्, सर्वत्र व्याप्त, अजर, युवा और वीर है। उसको जाननेसे मृत्युका भय नहीं होता।' यह मृत्युको हटानेका उपाय है। सर्वात्मभावसे युक्त बननेका अर्थ इन गुणोंसे युक्त बनना है। स्वयं तृप्त, संतुष्ट, निष्काम, निर्भय और तरुण जैसे उत्साही बनने और अन्यान्य गुण अपने आत्मामें बढानेसे वह निर्भय-वृत्ति अपनेमें स्थिर हो जाती है। एक बार वह भाव अपनेमें बढ गया तो फिर मृत्युका भय उसको नहीं रहता।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका मनन पाठक ईशोपनिषद्के ५ से [illegible] तकके तीनों मन्त्रोंके साथ करे और आत्मोन्नतिके वैदिक मार्गको जानकर स्वयं अपने प्रयत्नसे अपनी उन्नति करे।

ईशोपनिषद्के शेष मन्त्रोंका भाव स्पष्ट है और उस कारण अन्य मन्त्रोंसे तुलना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यहां ईशोपनिषदके मन्त्रोंका तुलनात्मक विचार समाप्त हुआ।

ईशोपनिषद्का रूपान्तर श्रीमद्भागवतमें

ईशोप०
श्लोकाक०

१ आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(श्री भागवत ८।१।१०)

६ सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(श्री. भागवत ११।२।४५)

६ आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
(श्री. भागवत ३।२४।४६)

७ यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥
(श्री भागवत ३।९।३२)

महाभारतमें

६ त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चासि वै ।
गुणानां हि प्रधानानामेकत्वं त्वयि तिष्ठति ॥
(म भारत सौप्तिकपर्व ७।५८।)

[इस प्रकार इतिहास और पुराणोंके ग्रंथोंमें ईशोपनिषद्का रूपान्तर है। विद्वान् पाठकोंको उचित है कि वे इसकी अधिक खोज करें और रूपान्तरके श्लोक निकालकर उनकी तुलना ईशोपनिषद्के साथ करें और उचित बोध प्राप्त करें ।]

कुरान शरीफका एक मन्त्र

'अग्ने नय' यह मन्त्र ईशोपनिषद्में १८ वाँ है। उसके अर्थके समान अर्थवाला एक 'सुरा' (सूरतुल–फातेहा) कुरान शरीफमें है। तुलनाके लिये उसके मूल वाक्य, उपनिषदके वाक्य और उनका अर्थ नीचे देते हैं—

वेद-मन्त्र	कुरानका वाक्य	अर्थ
ॐ	बिस्मिल्लाह इर्रहमा निर्रहीम	ईश्वरके नामसे प्रारम्भ जो दयालु और दयामय है।
	अलहम्दु लिल्लाहि	ईश्वरके लिये स्तुति है।
देव	रब्बिल आलमीन	वह जगत्का कर्ता है।
विश्वानि वयुनानि विद्वान्	मालिकि यउ मिद्दीन्	सब कर्मोंको जाननेवाला अंत न्यायके दिनका स्वामी।
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।	इय्याका नाबुदो व इय्याका नस्तईन्।	हम उसको नमन करते और उसीसे सहायता चाहते हैं।
अस्मान सुपथा नय।	इहदि नस्सिरातल मुस्तकीन्	हमें सुमार्गसे ले चल।
राये अस्मान सुपथा नय	सिरातल्लजीना अनअम्ता अलयहिम	जिनपर तुम्हारी कृपा है उनके मार्गसे हमें ले चल।
एन युयोधि	गैरिल्मग्जूबि अलयहिम्	उनके मार्गसे नहीं कि जिन पर तुम्हारा क्रोध होता है।
जुहुराण युयोधि	वलज्जालीन्	और न उनका मार्ग कि जो टेढ़े मार्गमें जाते हैं।
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति	आमीन	त्रिभुवनोंके प्रभुकी कृपा हो।

इस तरह इस वेदमन्त्रका भाव और कुरानके इस वचनका भाव एकही है। 'अग्ने नय' यह मन्त्र ऋग्वेद आदि संहिताओंमें है—ऋ १।१८९।१, वा य ५।३६, ७।४३, ४०।१६, काण्व ४०।१८, तै सं १।१।१४।३, ४।४३।१, तै ब्रा २।८।२।३, तै आ १।८।८ श ब्रा १४।८।३।१ अन्यान्य वैदिक वाङ्मयमें भी है। ऐसा यह मन्त्र कुरान शरीफतक भावार्थ–रूपमें पहुँचा है। यह निःसंदेह विचार करनेयोग्य बात है।

ॐ

ईश-उपनिषद्

[अध्यात्म-तत्त्वज्ञानपर अधिष्ठित राज्यशासन]

प्रास्ताविक

अध्यात्म-सिद्धान्तोंपर अधिष्ठित राज्यशासन ।

वैदिक समयके आर्योंके प्राय सभी व्यवहार आध्यात्मिक भूमिकापर चलते थे, वैसा राज्यप्रबंध भी इसी उच्च भूमिकापर चलता था । वेदकी संहिताएँ, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ, तथा उपनिषदोंमें जो अध्यात्म-वर्णन है, वह व्यक्तिमें अध्यात्म, समाज या राष्ट्रमें अधिभूत और विश्वमें अधिदैवत नामसे प्रसिद्ध है । ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद आदि ग्रन्थोंमें वारवार ' **अथाध्यात्मं, अथाधिभूतं, अथाधिदैवतं** ' ऐसे शीर्षकोंके नीचे एकही संहितामंत्रकी व्याख्या इन तीनों क्षेत्रोंमें कैसी होती है यह दिया होता है । इन वर्णनोंसे वेदमंत्रकी आध्यात्मिक भूमिकापर राजकारण कैसा अधिष्ठित है इसका बोध हो सकता है ।

अध्यात्म-क्षेत्रकी मर्यादा ' आत्मा-बुद्धि-मन-इंद्रिय-शरीर ' तक सीमित है, अधिभूतकी मर्यादा ' मानव-समाज-पशुसमाज-अर्थात प्राणि समष्टितक ' मर्यादित है । इसीसे समाज-नियंत्रण, राष्ट्र-संरक्षण, मानवी राजकारण सिद्ध होता है । इसी तरह अधिदैवतकी मर्यादा ' स्थिर-चर समष्टि ' अर्थात् संपूर्ण विश्व है । इससे स्पष्ट होगा कि अधिभूत विचार ही समाज तथा राष्ट्रका विचार है । इसीमें समाजव्यवस्था और राज्यशासन-प्रबंधका अन्तर्भाव हुआ है यह जानना चाहिये ।

तथापि इसमें एक दृष्टिकोण है वह भी यहां देखना चाहिये । अध्यात्म-विचार व्यक्तिके शरीरके अन्दरका विचार है, अधिदैवत विचार विश्वान्तर्गत

विचार है, इन दोनों स्थानोंकी व्यवस्था ईश्वरीय नियमोंके अनुसार चलती है, मानव उसमें हस्ताक्षेप नहीं कर सकता। मानव इन नियमोंका निरीक्षण करे वहांके शाश्वत नियम देखे और उन नियमोंको अधिभूत क्षेत्रमें अर्थात मानव-समाज और राष्ट्रके क्षेत्रमें लगावे और तदनुसार राज्यशासन चलावे। इसतरह जो शासन-प्रबंध होगा वह ' अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन-प्रबंध ' होगा। यह कैसा है वह निम्नलिखित कोष्टकमें देखिये—

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
आत्मा	शासक	ईश्वर विश्वशासक
बुद्धि	शासकसभा	प्रकृति
मन	नियामक	विश्वमन
इन्द्रियां	अधिकारी	अग्नि-सूर्यादि शक्ति
शरीर	राष्ट्र, समाज	विश्व

अध्यात्म और अधिदैवत क्षेत्रके सब व्यवहार ईश्वरीय नियमोंसे स्वयं चलते रहते है। ये नियम अटल है। उनके सामान्य नियम मनुष्य देखे और इन नियमोंको मनुष्य अपने मानवसमाजके शासनमें लगावे। इससे जो राज्य-शासन होगा वह अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन होगा। यह विचारपूर्वक और मननपूर्वक करना चाहिये। अपनी स्मृतियोंका स्थायी भाग ऐसा ही निर्माण हुआ है ऐसा दीखता है। श्रुतिके आधारपर स्मृतियां हुई है अथवा श्रुति और स्मृति एक है ऐसा जो कहा जाता है, इसका भाव यह है। संहिताके मन्त्रोंके वचन समाज-शासनमें किस तरह परिवर्तित किये जा सकते है यह समझमें आनेसे यह सब सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

यह ध्यानमें विशद रूपसे आनेके लिये हम यहां एक या दो उदाहरण देते है और बताते हैं, कि वैदिक अध्यात्म-सिद्धान्त ही राजकारणके सिद्धान्त कैसे बनते है—

' ईश-उपनिषद् ' यह ' ईश-विद्या ' है अर्थात् यह ईश बननेके

विद्या है। 'नर' का सामर्थ्य बढाकर उसका 'नारायण' बनानेकी यह विद्या है। अर्थात् यह सामर्थ्यका संवर्धन करनेकी विद्या है।

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि 'अमेरिकामें कोई एक चर्मकारका पुत्र भी मैं अमेरिकाका अध्यक्ष बनूंगा ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करता है और प्रयत्न करके वैसा अध्यक्ष बन भी जाता है।' बहुत विद्वान् प्रशंसा करते हैं और वह योग्य भी है। अपने भारतवर्षमें देखिये, यहां कोई नीचसे भी नीच माना जानेवाला मनुष्य हो, वह 'जीव' होते हुए भी 'मैं ईश्वर बनूंगा' ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करता है और 'अहं ब्रह्म अस्मि' ऐसा अनुभव लेनेतक उन्नत हो सकता है। ऐसे परम उन्नत हुए महात्मा लोग प्रायः प्रत्येक उच्च तथा नीच जातिमें हुए हैं, इसलिये हम कह सकते हैं कि, ईश्वर बननेकी महत्त्वाकांक्षा इस देशमें हरकोई धारण कर सकता और वहांतक उन्नत भी हो सकता है। किसी एक देशका अध्यक्ष होनेकी अपेक्षा अध्यक्षोंका भी अध्यक्ष जो परम अध्यक्ष ईश्वर है, वह बनना एक परम श्रेष्ठ ध्येय है। भारतके लोगोंके अन्तःकरणमें यह ध्येय रहता है और अनुष्ठान करके कई लोग इसको प्राप्त भी कर सकते हैं। क्या यह महत्त्वाकांक्षा कम है?

अध्यात्ममें 'आत्मानुभव' लेना, अधिभूतमें 'अध्यक्ष' अथवा 'शासक' होना और अधिदैवतमें 'परमात्मा अथवा नारायण' बनना ये उन्नतिकी सीढियां हैं। किसकी महत्त्वाकांक्षा कौनसी है यह यहां पाठक देखें और निश्चय करें कि कौनसी महत्त्वाकांक्षा सर्वश्रेष्ठ है। यह 'अध्यात्मशास्त्र' इसतरह 'सामर्थ्य बढानेवाला शास्त्र' है। 'नर' का नारायण बननेका अर्थ ही यह है कि जो सामर्थ्य नरमें नहीं था वह उसमें प्रकट हुआ और वह नारायण बना। इसलिये इसे हम 'सामर्थ्यका शास्त्र' कह सकते हैं।

'प्रकृति सब प्रपंच चलाती है और आत्मा अकर्ता है। कूटस्थ है, केवल द्रष्टा है।' यह अध्यात्मका सिद्धान्त सब जानते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। (गीता १३।२९)

' प्रकृति ' का अर्थ जैसा ' पञ्चभूतात्मक प्रकृति ' है वैसाही ' पञ्चजन रूप प्रजा ' भी है। इसी तरह कूटस्थ ईश्वर-प्रजापतिका अर्थ ' राजा, शासक ' ऐसा भी है। ये अर्थ लेनेसे पूर्वोक्त अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें इसतरह परिवर्तित हुआ दीखता है—

अध्यात्म	अधिभूत
द्रष्टा, ईश	निरीक्षक, प्रजापालक
प्रपचधर्मी प्रकृति	सर्व शासनव्यवहार करनेवाली प्रजा
पञ्चभूत	पञ्चजन

इसतरह देखकर बहुत कुछ विवरण हम कर सकते हैं। यहा अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिये हम एक दो और भी मन्त्र लेते हैं और देखते हैं कि अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस तरह परिवर्तित होते हैं—

ईशा वास्य इदं सर्वम्। (वा य ४०।१, ईश १)

' ईश्वरके द्वारा यह सब विश्व आच्छादित होने योग्य है। ' यहा कहा है कि ' ईश अपनी शक्तिद्वारा इस सब विश्वको घेरता है। ' ' ईश ' वह है कि जिसमें ' ईशन-शक्ति, हो। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही ईश है, और वही इस विश्वपर प्रभुत्व करता है। इस विश्वमें बसना, रहना, घेरना, राज्य करना, इसपर अपना अधिकार प्रस्थापित करना यह सब ईश्वर अपने निज सामर्थ्यसे ही कर रहा है। किसी दूसरेसे सामर्थ्य प्राप्त करके वह ये कार्य नही करता। उसमें प्रचण्ड शक्ति है, इसलिये वह इस प्रचण्ड विश्वपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करता है। अर्थात ' **सामर्थ्यसंपन्न जो होगा वही यहांका शासक हो सकता है।** ' निर्बलके लिये यहा कोई स्थान नहीं है। निर्बल रहनेवाले गुलाम या दास रहे। पर जबतक वे सामर्थ्यसंपन्न नही होंगे तबतक वे शासक नहीं हो सकेंगे।

एक देशका वीर दूसरे देशमें जाता है, वहां वह रहता है, वहाके लोगोंको घेरता है, उनको दास बनाता है, उनपर राज्य करता है। इस इतिहासका

एक ही अर्थ है और वह यह कि उस वीरके अन्दर वैसा प्रशासन करनेका सामर्थ्य था, और उस दास बने राष्ट्रमें वह नहीं था। 'समर्थके द्वारा अपने सामर्थ्यसे यह सब विश्व बसने, घेरने तथा प्रभुत्व करनेयोग्य है।' सामर्थ्यहीनसे यह कार्य नहीं होगा। इसी कारण मनुष्यका सामर्थ्यवान्, प्रभावी और प्रभुत्व-शक्तिसे युक्त बनना चाहिये। अध्यात्मके सिद्धान्त राजकारणमें इसतरह बोधप्रद हो सकते हैं। ये सिद्धान्त नि सन्देह मनुष्यका सामर्थ्य बढानेवाले हैं।

'समर्थ यहां बसता है, इसे घेरता है' इसका अर्थ यह है कि 'मुख्य राज्य-शासक प्रभावी अर्थात् सामर्थ्ययुक्त होना चाहिये।' इसीतरह छोटे मोटे राजपुरुष अर्थात् राज्यके अधिकारी भी सामर्थ्यवान् ही होने चाहिये, अधिकार-पर आनेवाला पुरुष निर्बल, निष्प्रभ अथवा सामर्थ्यहीन नहीं होना चाहिये। यह भी बोध उक्त वचनसे ही प्राप्त हो सकता है। इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। इतना यह स्पष्ट है। तथा और देखिये—

प्रजापते न त्वत् एतानि अन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ॥
(ऋ १०।१२१।१०)

'हे प्रजापते! तुमसे भिन्न ऐसा कोई नहीं है कि जो इस सारे विश्वपर प्रभुत्व कर सके।' तूही सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है इसलिये तुम्हारा शासन इस विश्वपर हो रहा है।

इसका राजकारणका भाव बिलकुल स्पष्ट है वह यह कि 'जिसमें विशेष सामर्थ्य होता है वही उत्तम राज्यशासन कर सकता है।' मान लें कि अपने राष्ट्रके शासन-प्रबंधके लिये राष्ट्राध्यक्ष, राजपुरुष, सेनापति, न्यायाधीश, अन्य अधिकारी, सैनिक, पदाति आदि संरक्षक हमें नियुक्त करने हैं तो हम वह कैसे करें? इस समय ऊपरका मंत्र हमे उपदेश देता है कि— 'इस पुरुषसे भिन्न कोई दूसरा ऐसा नहीं है कि जो इस कार्यको कर सके और इससे अधिक श्रेष्ठ भी कोई नहीं है; अतः हम इसकी

' प्रकृति ' का अर्थ जैसा ' पञ्चभूतात्मक प्रकृति ' है वैसाही ' पञ्चजन रूप प्रजा ' भी है। इसी तरह कूटस्थ ईश्वर-प्रजापतिका अर्थ ' राजा, शासक ' ऐसा भी है। ये अर्थ लेनेसे पूर्वोक्त अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें इसतरह परिवर्तित हुआ दीखता है—

अध्यात्म	अधिभूत
द्रष्टा, ईश	निरीक्षक, प्रजापालक
प्रपचकर्त्री प्रकृति	सर्व शासनव्यवहार करनेवाली प्रजा
पञ्चभूत	पञ्चजन

इसतरह देखकर बहुत कुछ विवरण हम कर सकते हैं। यहां अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिये हम एक दो और भी मंत्र लेते हैं और देखते हैं कि अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस तरह परिवर्तित होते हैं—

ईशा वास्यं इदं सर्वम् । (वा. स ४०।१; ईश १)

' ईश्वरके द्वारा यह सब विश्व आच्छादित होने योग्य है। ' यहां कहा है कि ' ईश अपनी शक्तिद्वारा इस सब विश्वको घेरता है। ' ' ईश ' वह है कि जिसमें ' ईशन-शक्ति, हो। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही ईश है, और वही इस विश्वपर प्रभुत्व करता है। इस विश्वमें बसना, रहना, घेरना, राज्य करना, इसपर अपना अधिकार प्रस्थापित करना यह सब ईश्वर अपने निज सामर्थ्यसे ही कर रहा है। किसी दूसरेसे सामर्थ्य प्राप्त करके वह ये कार्य नहीं करता। उसमें प्रचण्ड शक्ति है, इसलिये वह इस प्रचण्ड विश्वपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करता है। अर्थात् ' सामर्थ्यसंपन्न जो होगा वही यहांका शासक हो सकता है। ' निर्बलके लिये यहां कोई स्थान नहीं है। निर्बल रहनेवाले गुलाम या दास रहें। पर जबतक वे सामर्थ्यसंपन्न नहीं होंगे तबतक वे शासक नहीं हो सकेंगे।

एक देशका वीर दूसरे देशमें जाता है, वहां वह रहता है, वहांके लोगोंको घेरता है, उनको दास बनाता है, उनपर राज्य करता है। इस इतिहासका

एक ही अर्थ है और वह यह कि उस धीरके अन्दर वैसा प्रशासन करनेका सामर्थ्य था, और उस दास बने राष्ट्रमें वह नहीं था। 'समर्थके द्वारा अपने सामर्थ्यसे यह सब विश्व बसने, घेरने तथा प्रभुत्व करनेयोग्य है।' सामर्थ्यहीनसे यह कार्य नहीं होगा। इसी कारण मनुष्यका सामर्थ्यवान्, प्रभावी और प्रभुत्व-शक्तिसे युक्त बनना चाहिये। अध्यात्मके सिद्धान्त राजकारणमें इसतरह बोधप्रद हो सकते है। ये सिद्धान्त निःसन्देह मनुष्यका सामर्थ्य बढानेवाले है।

'समर्थ यहां बसता है, इसे घेरता है' इसका अर्थ यह है कि 'मुख्य राज्यशासक प्रभावी अर्थात् सामर्थ्ययुक्त होना चाहिये।' इसीतरह छोटे मोटे राजपुरुष अर्थात् राज्यके अधिकारी भी सामर्थ्यवान् ही होने चाहिये, अधिकारपर आनेवाला पुरुष निर्बल, निष्प्रभ अथवा सामर्थ्यहीन नहीं होना चाहिये। यह भी बोध उक्त वचनसे ही प्राप्त हो सकता है। इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहा आवश्यकता नही है। इतना यह स्पष्ट है। तथा और देखिये—

प्रजापते न त्वत् एतानि अन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ॥
(ऋ० १०।१२१।१०)

'हे प्रजापते! तुझसे भिन्न ऐसा कोई नहीं है कि जो इस सारे विश्वपर प्रभुत्व कर सके।' तूही सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है इसलिये तुम्हारा शासन इस विश्वपर हो रहा है।

इसका राजकारणका भाव बिलकुल स्पष्ट है वह यह कि 'जिसमें विशेष सामर्थ्य होता है वही उत्तम राज्यशासन कर सकता है।' मान ले कि अपने राष्ट्रके शासन-प्रबंधके लिये राष्ट्राध्यक्ष, राजपुरुष, सेनापति, न्यायाधीश, अन्य अधिकारी, सैनिक, पदाति आदि संरक्षक हमे नियुक्त करने हैं तो हम वह कैसे करे? इस समय ऊपरका मंत्र हमे उपदेश देता है कि— 'इस पुरुषसे भिन्न कोई दूसरा ऐसा नहीं है कि जो इस कार्यको कर सके और इससे अधिक श्रेष्ठ भी कोई नहीं है; अतः हम इनकी

नियुक्ति करते हैं । ' ऐसा प्रत्येक स्थानके अधिकारीके विषयमें हमें कहना चाहिये । ऐसा सुयोग्य पुरुषही उस स्थानके लिये नियुक्त किया जावे । राष्ट्रमें इस स्थानके लिये जितने पुरुष योग्य हैं उनमें यह अधिक योग्य है इसलिये इसकी नियुक्ति की जाती है । यह सर्वसाधारण नियम हुआ ।

यह इस जातिका है । यह मेरा संबंधी है, इसलिये इसे मैं नियुक्त करता हूं ऐसा कहना योग्य नहीं है । यह पुरुष इस कार्यके लिये अत्यंत योग्य है इसलिये इसको हम नियुक्त करते हैं ऐसा कहना चाहिये । यह नियम सबध रहकर पालन करना चाहिये । सूक्ष्म मननपूर्वक इस तरह मन्त्रोंका विचार करके राजकीय बोध प्राप्त करना चाहिये ।

वेदमें ऐसे सहस्रो मंत्र हैं कि जो देवताओंका वर्णन करनेके मिषसे राज्य-शासनका संदेश दे रहे हैं । पाठक इसका अवश्य इस दृष्टिसे मनन करें और वैदिक राज्यशासनविषयक बोध प्राप्त करें ।

ईश-उपनिषद्

' ईश-उपनिषद् ' यह अध्यात्मशास्त्रका वैदिक ग्रन्थ है । यह सामर्थ्यकी विद्या है । यह सब अन्य उपनिषदोंका मूल आदिस्रोत है । सब अन्य उपनिषदें इस ईशोपनिषद्के सिद्धान्त ले लेकर और उनका विस्तार करके बनी हैं । इस पुस्तकमें ईशोपनिषद्के मन्त्रोंका सरल आध्यात्मिक अर्थ दिया है और उसके पश्चात् यही अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें किस तरह परिवर्तित होता है और उससे किस स्वरूपका राज्यशासन-प्रबंध-विषयक बोध मिलता है, यह बताया है । अर्थात् यह सब संक्षेपसे बताया है । विस्तार करना हो तो बहुतही ग्रन्थ बनाना पडेगा । यह विस्तार कोई राजनीतिज्ञ जितना चाहे उतना कर सकता है ।

यहां इसका विशेष विस्तार न करनेका और भी एक हेतु है वह यह कि, इस तरह अध्यात्मके सिद्धान्तोंका राज्यशासनमें रूपान्तर करनेका प्रयत्न बाह्मणआरण्यक-उपनिषदोंके प्रतिपादनको छोडकर, किसी आचार्यने अपने

किसी लेखकने इस समयतक नहीं किया है। इस तरहका यही पहिला प्रयत्न है। हमने भी यह ईशोपनिषद् कई बार हिंदी-मराठीमें अनुवाद और स्पष्टीकरणके साथ मुद्रित किया था, पर उनमें भी हमने इस तरहका राजकीय स्पष्टीकरण नहीं किया था।

ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् ग्रन्थोंको पढनेसे अध्यात्मके, अधिभूतके और अधिदैवतके सिद्धान्त एक जैसे हैं। वेदमन्त्रोंमें यही प्रणाली है, इसका स्पष्टीकरण हमने कईबार अनेक लेखोंमें किया और इन नियमोंकी एकता तथा समानताके कोष्टक भी अनेकवार प्रकाशित किये। इससे यह स्पष्ट हुआ था कि अध्यात्मके सिद्धान्त ही अधिभूत (समाज वा राष्ट्रशासन) तथा अधिदैवतमें स्वरूपान्तरित होते हैं, परंतु आजतक हमने भी संपूर्ण ईशोपनिषद्का राज्य-शासनविषयक भाव प्रकट करनेवाला लेख नहीं लिखा था, यह ऐसा लेख प्रथमवार ही प्रकाशित किया जाता है। यह विद्या ब्राह्मण-आरण्यकोंमें है, अतः प्राचीन है, तथापि उसके पश्चात् इसका किसीने लेखद्वारा प्रकाशन न करनेसे यह नवीनसी प्रतीत हो सकती है। पुरानी होती यह पद्धति नूतनसी दीख सकती है। अतः इस विषयमें विवेचन हमने संक्षेपसे ही किया है। इस प्राचीन पद्धतिका विचार आजके विद्वान् भी करें और इसके गुणदोषोंका तथा न्यूनाधिकताका मनन करें और अपने विचार प्रकट करें। विद्वान् पाठक अपने विचार लेखबद्ध करके प्रकाशित करेंगे तो आगे अधिक मन्त्रोंका मनन करनेके लिये अधिक सुविधा होगी। और इसी तरह विद्वानोंके सहयोगसे यह शास्त्र कभी न कभी परिपूर्ण और निर्दोष हो सकेगा।

वेदमन्त्रोंमें मुख्यतः 'परमेश्वर' का गुणवर्णन है। इसीका वर्णन 'आत्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, इन्द्र, महेन्द्र, अग्नि, सूर्य, आदित्य, प्राण, वायु' आदि अनेक नामोंसे विभिन्न सूक्तोंमें है। किसी स्थानपर स्पष्ट रीतिसे और किसी स्थानपर गुप्त रीतिसे है।

सर्वे वेदा यत्पदं आमनन्ति (उपनिषद्)

' सब वेद (मन्त्र) जिस पदका वर्णन करते हैं ' वह परमपद है वही परमात्मपद है । वही ' ईश्वर ' है ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । (गी १५।१५)

' सब वेदमन्त्रोंद्वारा मेरा (ईश्वरका) ही वर्णन हुआ है । इस तरह परमेश्वरका वर्णन अनेक पद्धतियोंसे वेदमन्त्रोंमें हुआ है ।

अब यह बात सबको विदित है कि जिसे हम ' ईश्वर ' कहते हैं वह राजाओंका राजा और महाराजाओंका महाराजा है । अर्थात् सबसे श्रेष्ठ राजाधिराजका वर्णन ही ईश्वरका वर्णन है, जो वेदमें है । यदि हमें सबसे श्रेष्ठ ज्येष्ठराजाका वर्णन विदित हुआ, तो उससे हमारे पृथ्वीपरके छोटे राजाके गुणोंका भी पता लग जायगा । इतना ही है वह ज्येष्ठराज (ईश्वर) सदा निर्दोष कर्म करता है और हमारे राजा और हमारे राज्याधिकारी मानव होनेके कारण प्रमादशील है । यह हो पर ईश्वरके वर्णनसे हमें आदर्श राजाका वर्णन तो अवश्य मिलेगा ही । अर्थात् वेदमें आदर्श राज्य, आदर्श राज्यशासन, आदर्श राजा और राजपुरुषोंका वर्णन है ऐसा कहना किसी तरह अयुक्तिका नहीं होगा । इसी तरह वेदमन्त्रोंसे राज्यशासन प्रकट हो सकता है और यही अध्यात्म तत्वोंपर अधिष्ठित राज्यशासन है । उदाहरणार्थ– ईशोपनिषद्के अष्टम मन्त्रमें—

कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः । (ईश ८; वा य ४०।८)

ये पद परमेश्वरका तथा पूर्ण पुरुषका वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं । यह वर्णन राजाधिराज ज्येष्ठराज परमेश्वरका है । अर्थात् यही वर्णन आदर्श राजाका है और हमारा आदर्श राजा ' ज्ञानी, संयमी, प्रभावी, पराक्रमी और स्वावलंबी ' हो यह बोध इससे मिलता है । इस तरहका राजा वेदोंके राज्यशासनमें होना चाहिये, ऐसा कहना किसी तरह अयुक्तियुक्त नहीं हो सकता । यही पद्धति है कि जिससे वेदोक्त राज्यशासन अथवा अध्यात्मपर

अधिष्ठित राज्यशासन सिद्ध हो सकता है। यह पद्धति है कि जिससे वेद-मन्त्रोंका वर्णन राज्यशासनमें ढाला जा सकता है और वेद निर्दोष रीतिसे ढाला जा सकता है।

इस तरह इस पद्धतिसे ईश-उपनिषद्द्वारा बताया राज्यशासन यहां दर्शाया है। पाठक इसका विशेष विचार करें।

लेखक

श्री. दा. सातवलेकर

ईश-उपनिषद्

[गुरु-शिष्यका संवाद]

स्वाध्याय-मण्डलके आनन्दाश्रमके वेद-महाविद्यालयमें गुरुशिष्योंका मिलकर वेदमन्त्रोंका स्वाध्याय चल रहा था। उसमें 'ईश-उपनिषद्' अर्थात् वाजसनेयी अथवा काण्वसंहिताके ४० वे अध्यायके विषयमें जो वार्तालाप हुआ वह इस तरह है—

शिष्य—गुरुजी ! मुझे 'ईश-उपनिषद्' का अध्ययन करना है। कृपया पढाइये।

गुरु—इसमें पढनेका कुछ भी नहीं है, पढनेका ही सब कुछ है। आप पढते जाइये, जहां कठिनता आजाय वहां आप पूछिये। यदि कुछ हमें विदित हुआ तो हम बता देंगे, अन्यथा हम दोनों अधिक अन्वेषण करेंगे और जो सत्य प्राप्त करेंगे उसको आचरणमें लानेका प्रयत्न करेंगे।

शिष्य—'ईश-उपनिषद्' इस ग्रंथका नाम है। इसका प्रारंभ 'ईशा वास्यं' इन शब्दोंसे होता है।

ईशोपनिषद्के नाम

गुरु—यह सत्य है, पर 'ईशा' इस पदसे इसका प्रारम्भ होता इसलिये जैसा इसका नाम 'ईश-उपनिषद्' है, वैसा ही 'ईशा वास्यं' ये पद प्रथम रहनेसे इसको 'ईशा वास्य-उपनिषद्' भी कहते हैं। इसी तरह इसके अन्य नाम 'आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मोपनिषद्, ब्रह्मोपनिषद्' ये भी हैं। क्योंकि इसमें 'आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म' के विषयमें वर्णन है। हम इसका नाम 'सामर्थ्य-विद्या' ऐसा भी रख सकते हैं क्योंकि यह सचमुच 'सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या' है। नरका

नारायण, जीवका शिव बननेकी यह विद्या है। इसलिये इसका नाम **' सामर्थ्य-विद्या '** होना स्वाभाविक है और योग्य भी है।

शिष्य—परंतु आजतक किसीने ऐसा नहीं कहा !

गुरु—हां, ऐसा नहीं कहा यह सत्य है। आप जैसे जैसे वेदका अध्ययन करते जायगे, वैसे वैसे आपको आजतक किसीने न कही बातें कहनी पडेगी और बोलनी भी पडेगीं। यही तो वेदके अध्ययनका परिणाम होना है और होना भी चाहिये। क्योंकि आजतक बहुत शतकोंमें मूल वैदिक संहिताओंका सार्थ अध्ययन नहीं हुआ, इसलिये वेदविद्या अज्ञात ही रही। वह इस तरहके अध्ययनसे अब प्रकट होगी। और नये नये वैदिक आदेश प्रकट होते ही रहेंगे।

शिष्य—यह ठीक है, पर आप इस उपनिषद्को ' सामर्थ्य-विद्या ' किस प्रमाणसे कहते हैं ?

सामर्थ्यकी विद्या

गुरु—यह प्रश्न बडा अच्छा है। इसका नाम ' **ईश-उपनिषद्** ' तो है, यह नाम सब जानते हैं। नरका नारायण होनेकी यह विद्या है इसमें भी किसीको कोई संदेह नहीं है। ' नारायण बनने ' का अर्थ ही यह है कि ' ईश्वरीय शक्ति प्राप्त करना '। महती शक्ति प्राप्त करनेके विना कोई भी नर नारायण बन नहीं सकता। इस कारण इसको हम '**नारायणी-विद्या**' ऐसा भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम ' ईश-उपनिषद् ' है। ' उपनिषद् ' का अर्थ ' विद्या ' है। वैदिक समयमें ऋषि-मंडलियां होती थी और उन सभाओंमें नाना प्रकारके मानवीय जीवनके सिद्धान्तोंपर विचार होते थे। इन सभाओंका नाम ' उपनिषद् ' था। उन सभाओंका जो निर्णय होता था उसको भी ' उपनिषद् ' ही कहा जाता था। ' परिषद् ' ही ' उपनिषद् ' है। कठ शाखाकी ऋषिसभाका ' कठ-उपनिषद् ' और तैत्तिरीय ऋषियोंका ' तैत्तिरीय-उपनिषद् ' आज भी प्रसिद्ध है। ऐसा ही यह ' ईश-उपनिषद् ' है।

शिष्य—यहां ईश शब्दका क्या महत्त्व है ?

गुरु—' ईश ' शब्द मंगलवाचक है, इसी तरह ' ईश ' शब्द ' जिसके पास ईशन करनेकी शक्ति है, जिसमें स्वामी होनेका सामर्थ्य है, जिसमें राज्य शासन करनेका बल है वह ईश होता है । ' ऐसा ईश बननेकी यह विद्या है । इसके पढनेसे सामर्थ्य प्राप्त करनेका मार्ग विदित होता है इसलिये इसको ' ईश-उपनिषद् ' कहते हैं ।

शिष्य—इस ईशोपनिषद्के पढनेसे मनुष्य सामर्थ्यसंपन्न हो सकता है ?

गुरु—नहीं नहीं ! केवल पठनमात्रसे नहीं, पहिले पठन करना, पश्चात् उसका अर्थ जानना, तदनंतर उसका मनन करना, उस ज्ञानको अपने जीवनमें ढालना और अन्तमें वैसा बनना है । इतना अनुष्ठान करनेसे साधक मनुष्य ईशन-सामर्थ्यसे युक्त हो सकता है । अर्थात् ईश बन सकता है । ईश बननेका ही अर्थ सामर्थ्यसंपन्न होना है । जिसमें सामर्थ्य नहीं है ऐसा कोई भी निर्बल पुरुष ईश बन ही नहीं सकता ।

शिष्य—हां ! अब मेरे ध्यानमें आया कि यह ' ईश-उपनिषद् ' है अर्थात् यह ' सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या ' है । अब आगे इसका ' शान्ति-मंत्र ' यह है—

ॐ पूर्णं अदः, पूर्णं इदं, पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय, पूर्णं एव अवशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

इसमें ' ॐ ' यह पहिला शब्द है । इसका तात्पर्य क्या है ?

श्रेष्ठ बननेका ध्येय

गुरु—' ॐ ' का अर्थ ' संरक्षण ' है । हमारा सबका संरक्षण हो यह इसका अर्थ है । ' अ-उ-म ' ये तीन अक्षर इस ओंकारमें हैं, इनका अर्थ

क्रमसे ' आदि-उत्तम-माननीय ' है। ' आदि ' अर्थात् पहिला बनना चाहिये, ' उत्तम ' अर्थात् श्रेष्ठ बनना चाहिये और ' माननीय ' बनना चाहिये। ये तीन आदेश ओंकारके तीन अक्षरोंसे प्रकट होते हैं।

अकारः...आदिश्च भवति०।

उकारः...उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं०।

मकारः...मिनोति ह वा एतत्सर्वम्॥ (माडूक्य उ. ९-११)

सबमें प्रथम होना, सबसे अधिक उत्कर्ष प्राप्त करना और सबका परिमाण जानना यह सामर्थ्यसे ही हो सकता है, इस ओंकारसे भी पता लगता है कि यह सामर्थ्य-प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठान है।

शिष्य--ओंकारके अ-उ-म ये तीन अक्षर अपना उत्कर्ष सब प्रकारसे करनेका आदेश दे रहे हैं यह बात अब मेरे ध्यानमें आ गयी है।

गुरु--इतनी ही बात इसमें नहीं है। माडूक्य उपनिषद्में इनका विवरण और भी मननपूर्वक देखनेयोग्य है--

जागरितस्थानो...अकारः

स्वप्नस्थानः...उकारः

सुषुप्तस्थानः...मकारः (माण्डूक्य उ. ९-११)

' अकारसे जागृति, उकारसे स्वप्न और मकारसे गाढ निद्रा ' ये मानवी जीवनकी तीन अवस्थाएं यहां बतायी हैं। जागृतिके सब व्यवहारोंमें प्रथम--उत्कर्ष-प्राप्त करना चाहिये, स्वप्न भी उत्कर्षके आने चाहिये और सुषुप्ति-पर भी प्रभुत्व चाहिये। मानवी जीवनकी इन तीनों अवस्थाओंमें उत्तम भाव रहना चाहिये। यह यहां सूचित होता है। यही मानवीय मूल्योंकी पूर्ण अवस्था है।

शिष्य--मेरे समझमें आया कि ओंकार द्वारा मानवी संपूर्ण जीवन बताया है और इस संपूर्ण जीवनमें मानवको उत्कर्ष प्राप्त करना चाहिये, यह

यहां सूचित होता है। सचमुच सामर्थ्यके विना यह नहीं होगा। अब इसके आगे 'पूर्णं अदः, पूर्णं इदं' यह मंत्र है, इसका अर्थ 'वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है' ऐसा दीखता है। यहां किसी वस्तुका निर्देश नहीं है। (अदः इदं) 'वह' और 'यह' इससे किसका बोध हो सकता है ?

यह विश्व पूर्ण है

गुरु—'पूर्णं' शब्दका अर्थ तो सब जानते हैं, पूर्ण, जो न्यून नहीं, जिसमें किसी तरह हीनता या न्यूनता नहीं, सब प्रकारसे जो जैसा होना चाहिये वह वैसा है अतः वह पूर्ण कहलाता है। 'अदः पूर्णं' वह ईश्वर पूर्ण है.' वह अपूर्ण नहीं है, वह जैसा चाहिये वैसा सर्वगुणसंपन्न है। उसमें किसी तरहसे न्यूनता नहीं है। 'पूर्णं इदं' 'यह विश्व भी पूर्ण है' यह विश्व भी जैसा चाहिये वैसा गुणसंपन्न है, इस जगत्में भी अपूर्णता नहीं है।

शिष्य—'पूर्णं [illegible]' यह विश्व भी पूर्ण है यह हम कैसे मान सकते हैं ? सब लोग कहते आये हैं कि यह जगत् क्षणिक, दुःखमय, दोषपूर्ण, हीन, तुच्छ, हेय, त्याज्य, बंधन और पापरूप है। और आप कह रहे हैं कि यह विश्व भी पूर्ण है यह कैसा माना जा सकता है ?

गुरु—सब तत्त्वज्ञान अनुभवसे माना जा सकता है। इस विश्वमें आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, पर्जन्य, जल, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, भूमि आदि पदार्थ हैं। क्या ये सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे नहीं हैं ? क्या सूर्यमें कुछ न्यूनता है ? क्या भूमिमें आप कुछ सुधार सुझाना चाहते हैं ? क्या वायु जैसा चाहिये वैसा नहीं है, क्या इनमें कुछ अपूर्णता कोई देख सकता है ? क्या इनका सुधार कोई करके दिखायेगा !

शिष्य—सूर्य-चन्द्र-वायु-जल-पृथ्वी आदि सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे हैं, इनमें कोई अधिक सुधार सुझा नहीं सकता, न कोई सुधार कर सकता है। निःसंदेह ये सृष्टिके पदार्थ जैसे चाहिये वैसे ही हैं। अर्थात् ये पूर्ण हैं, निर्दोष

भी हैं। सूर्यमे कोई दोष नही है, वैसे ही वायु-अग्नि-जल आदिमे भी दोष नही है।

गुरु—इतना ही नही परतु आम, अमरूद, केले, सेव, अनार, अंगूर, चावल, गेहूं, चन, तूर, मूग आदि खानेकी वस्तुओमे भी क्या कोई हीनता है? ये सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे नही हैं?

शिष्य—ये भी पदार्थ जैसे चाहिये वैसे ही हैं।

गुरु—इसीलिये कहा है कि ' **पूर्ण इदं** ' यह विश्व भी पूर्ण ही है। इस विश्वमे कोई न्यूनता नहीं है। जो वस्तु जैसी चाहिये वैसी है। जो जहा जैसा चाहिये वैसा ही वह वहा है।

शिष्य—फिर बुद्ध भगवान् इस विश्वको ' **सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं** ' ऐसा क्यों कहते हैं? ऐसा ही सब सन्त महन्त कहते हैं। ये ऐसा क्यो कहते हैं? इनके मनसे तो यह विश्व त्याज्य है। आप इस विश्वको पूर्ण कहते है यह कैसे माना जा सकता है?

क्षणिकवाद और दुःखवाद

गुरु—बुद्ध भगवान् तथा आधुनिक सन्त महन्त इस विश्वको हीन कहते है यह सत्य है, पर बुद्धपूर्व वैदिक वाङ्मयमे विश्वको हीन और त्याज्य नही कहा है। परतु ' **सर्वं आनन्दमयं** ' कहा है। यह विश्व आनन्दमय है ऐसा कहनेका आशय ही यह पूर्ण है ऐसा है। अर्थात् आधुनिक मतवाले जो कहे वह यदि वेदविरुद्ध होगा तो हम उसको दूर फेंक देंगे, उसका स्वीकार नहीं करेंगे। जो वेदका सिद्धान्त है उसीका हम विचार करते हैं। वेदका सिद्धान्त विदित होनेसे अन्य भ्रान्त सिद्धान्त स्वय ही खण्डित होते हैं। इस विषयम सदेह करनेकी कोई किसी तरह आवश्यकता नही है।

शिष्य—इस समय तो सभी मान रहे है कि यह जगत् हीन और तुच्छ है।

गुरु—सब लोग जो चाहे सो माने। हम यहां वेदवचनमे कौनसा सिद्धान्त

कहा है उसका मनन कर रहे हैं। इसलिये वेद तो यह कह रहा है कि 'पूर्ण इदं ' यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विश्व पूर्ण है,हीन और तुच्छ नही है। इसका हेतु भी है- ' पूर्णात् पूर्ण उदच्यते ' अर्थात् 'पूर्ण परमात्मासे यह उदित हुआ है। ' पूर्ण परमात्माकी यह कृति है, पूर्ण परमात्माका यह प्रसव है। परमात्मा पूर्ण है इसलिये उसकी यह कृति भी पूर्ण ही है। यह हेतु देकर इस विश्वको पूर्ण कहा है, इसलिये इसकी पूर्णतामें किसीको भी शंका करना नहीं चाहिये।

शिष्य — ' पूर्ण इदं ' का अर्थ ' यह विश्व पूर्ण है ' ऐसा अर्थ कैसा हुआ ? यहां जगद्वाचक कोई पद नही है।

गुरु—यहां जगद्वाचक पद नहीं यह सत्य है, पर ' इद ' यह पद प्रत्यक्ष दीखने या अनुभवमें आनेवाले जगत्के लिये यहां आया है। जो अनुभवमें आता है, जिसके अस्तित्वके विषयमें किसीको भी शंका नहीं है वह ' इदं ' (यह) है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, अग्नि, जल, वनस्पति, पृथिवी, मनुष्य, पशु पक्षी ये पदार्थ दीखते है, आकाश, वायु आदि अदृश्य पदार्थ हैं पर वे हैं इसलिये ये सब ' इदं ' (यह) करके बताये जाते हैं। यह सब विश्व है और यह पूर्ण भी है क्योंकि इसकी रचना पूर्ण परमेश्वरने की है। उत्तम चित्रकार जो चित्र करता है वह उत्तम ही होता है, उत्तम मूर्तिकारसे जो मूर्ति बनती है वह उत्तम होती है। इसी तरह सर्वश्रेष्ठ कुशल कारीगर परमेश्वरसे यह विश्व बना है इसलिये यह पूर्ण है और यह अपूर्ण तुच्छ, हीन, हेय नहीं है।

शिष्य—गुरुजी ! जो आप कह रहे हैं, यह सब आजकल जो उपदेश किया जाता है, इसके विपरीत दीखता है। क्योंकि आजकल ऐसा कहा जाता है कि ' यह जगत् दुःखदायी है, बंधनकारक है, त्याज्य है, इसको त्यागनेके बिना परमेश्वर प्राप्ति नहीं होती इत्यादि ' और आप कह रहे हैं कि यह विश्व पूर्ण है, यह कैसे ?

गुरु—जो वेदका सिद्धान्त मन्त्रोद्वारा प्रकट हो रहा है वह मैं यहां बोल रहा हूं। जनतामें अशुद्ध विचार और भ्रमजाल फैले हैं इसलिये वे अपने अज्ञानसे जो कुछ बोल रहे है, उसको दूर करना है और वेदसिद्धान्तोंको प्रकट करके, ऋषि वचनोंका विचार करके तथा अपना अनुभव देखकर भ्रमजालोंको दूर करना है। इसलिये जो लोग कह रहे हैं उनकी तुलना वेदके सिद्धान्तोंके साथ करते जाना तुम्हे योग्य है।

शिष्य—ठीक है हम सब ऐसा ही करते जायगे। अब एक शंका आती है वह यह है कि यदि यह पूर्ण विश्व उस पूर्ण परमेश्वरसे निकल आया है तो उस पूर्ण परमेश्वरमें कुछ न कुछ न्यूनता आनी चाहिये, वह तो पहिले जैसा परिपूर्ण नहीं रह सकेगा ?

गुरु—मन्त्र कहता है कि ' पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्ण एव अव-शिष्यते ' ' पूर्ण परमेश्वरके अन्दरसे यह पूर्ण विश्व बाहर आनेके पश्चात् वह परमात्मा जैसा पहिले था, वैसा ही पूर्ण, किंचित् भी न्यूनता उसमें न आती हुई, वैसाका वैसा परिपूर्ण रहता है।' गणितमें ०–०=०, ०+०=०; ०×०=०, ०÷०=० शून्यका गणित ऐसा होता है। शून्यसे शून्य निकालने-पर शून्य ही अवशिष्ट रहता है। वैसाही यहां समझना चाहिये। अनुभवकी बात भी ऐसी ही है। एक दीपसे सहस्र दीप जलानेपर भी पहिला दीप वैसाका वैसा रहता है। एक चित्रकारने अनेक उत्तम चित्र निर्माण करनेपर उसकी चित्रकारी न्यून नहीं होती पर बढ जाती है। गुरुने अपनी सब विद्या शिष्योंको पढायी तो गुरु विद्यासे शून्य नहीं होता, पर उसकी विद्या बढ जाती है। इस तरह पूर्ण परमेश्वरसे इस विश्वकी निर्मिति होनेपर वह विश्वकर्मा वैसाका वैसा ही सामर्थ्यसंपन्न अतएव परिपूर्ण रहता है। उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं आती है।

शिष्य—यह तो अब समझमें आ गया है। पूर्ण परमेश्वरसे इतनी विशाल सृष्टि प्रकट होनेपर वह वैसाका वैसा ही परिपूर्ण है और वैसा ही परिपूर्ण

रहेगा । कितने भी विश्व निर्माण हुए अथवा कितने भी विश्व उसमेंसे निकल गये तो उसमें कुछ भी न्यूनता आती नहीं है । यह समझमें आगया । अब इसके आगे ' ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ' ऐसी तीन बार शान्ति है वह किस लिये ?

गुरु—ओंकारका अर्थ तो इससे पूर्व बताया ही है । ' हमारी सुरक्षितता होनी चाहिये, हमें पहिला, उत्कृष्ट ज्ञानवान् और माननीय होना चाहिये ' यह ओंकारका आदेश इससे पूर्व बताया है ।

शिष्य—हां ! ठीक है, वह हमारे ध्यानमें है । पर तीन बार शान्ति किसलिये कही है ?

विश्वशान्तिका ध्येय

गुरु—(१) व्यक्तिमें शान्ति, (२) समाज या राष्ट्रमें शान्ति और (३) विश्वमें शान्ति ऐसी तीन स्थानोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, तीनों स्थानोंपर शान्ति स्थापन हुई तोही विश्वमें सच्ची शान्ति स्थायी रूपसे रह सकती है अन्यथा नहीं । ' विश्वशान्ति ' का वैदिक धर्मका ध्येय है, यह हम सब मानवोंनेही साध्य करना है, इसलिये मनुष्यको अपने आपको तैयार होना चाहिये । इस कार्यके लिये विशेष योग्यतावाला मनुष्य बनना चाहिये । प्रत्येक अपरिपक्व मनुष्य वह कार्य कर नहीं सकता । इसलिये प्रथम व्यक्तिमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये । व्यक्तिके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मामें शान्ति स्थापन होनेके लिये सुशिक्षा, सद्व्यवहार आदि अनुष्ठानके मार्ग हैं । इस तरह सब मनुष्योंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, नहीं तो कई मनुष्य गुण्ड रहे, तो वे समाजमें उपद्रव मचायेंगे । इसलिये मनुष्य मात्रमें सुशिक्षा, सुनियम, उत्तम अनुशासन आदि द्वारा शान्ति स्थापना होनी चाहिये । इसी तरह राष्ट्रों, समाजों और जातियोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये । नहीं तो एक राष्ट्र उठेगा और जगत्भरमें उत्पात करता रहेगा । इसलिये नियोजनपूर्वक ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे

सब राष्ट्रोमे उत्तम शान्ति स्थापन हो। ऐसा होनेपर विश्वमे शान्ति स्थापन हो सकेगी। परतु यदि विश्वमे शान्ति स्थापन नही हुई और चारो ओर बलवे और युद्ध होते रहे, तो व्यक्तिको भी शान्ति नही मिलेगी और व्यक्तिकी पूर्णता और श्रेष्ठता भी नही हो सकेगी। इसलिये व्यक्ति-समाज-राष्ट्र-तथा विश्वमे स्थायी शान्ति स्थापन करनेके लिये प्रयत्न होने चाहिये। यह साध्य करना वैदिकधर्मका उद्देश्य है। वैदिकधर्मका यह विस्तृत कार्यक्षत्र है।

शिष्य—यदि यह कार्यक्षेत्र वैदिकधर्मका है, तब तो यह व्यक्तिसे नही हो सकता, राष्ट्रशक्तिके द्वारा ही यह साध्य होनेकी सभावना है।

गुरु—नितान्त ठीक है, वैदिकधर्म राष्ट्रीय धर्म ही है। यह व्यक्तिका सुधार तथा राष्ट्रसुधार करनेका परिपूर्ण कार्यक्रम जनताके सामने रखता है और यहा इस ईशोपनिषदके द्वारा प्रकट हो रहा है।

शिष्य— सब कहते है कि इस ईशोपनिषद्मे केवल अध्यात्मविद्या है, ससारका त्याग करनेवाले इसे पढें। परतु आप कहते है कि 'यह राष्ट्रशासनका तत्त्वज्ञान है' और इसका उपयोग राज्यशासनके लिये है यह कैसे? यह विपरीत ही दीख रहा है?

राज्यशासनकी विद्या

गुरु— आप सब लोग तरुण है और आपको अपनी स्वतत्र बुद्धिसे सोचना चाहिये। कौन क्या कहता है इसके दबावके अन्दर अपनी बुद्धिको मारना नही चाहिये। इसके विवरणके प्रसगमे कहा है कि व्यक्तिगत शान्ति और समाजकी शान्ति तथा विश्वशान्ति स्थापन करना इस विद्याका ध्येय है। यह तीन 'शान्ति' पदके पाठसे स्पष्ट हुआ, अब विचारना यह है कि क्या यह कभी राजप्रबधके विना हो सकता है? कदाचित् कोई कह सकेगा कि व्यक्तिगत शान्ति व्यक्तिके सुधारसे हो सकेगी। पर सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वकी शान्ति तो नि सदेह राज्यशासनके प्रबन्ध द्वारा ही हो सकती है व्यक्तिगत प्रबधसे विश्वशान्ति कदापि स्थापन हो ही नही सकती।

व्यक्तिगत शान्ति योगानुष्ठानसे हो सकती है और योगाश्रमोंका स्थान अच्छे राज्यमेंही रहे ऐसा कहा है। गुण्डोंकि प्रान्तमें योगसाधन नही हो सकेगा।

सुभिक्षे धार्मिके देशे। (ह योग प्रदीपिका)

उत्तम धान्यवाले प्रदेशमें धार्मिक राज्य हो। वहां ही योगका आश्रम रखना चाहिये। गुण्डोंके राज्यमें कदापि योगका अनुष्ठान नही हो सकता। इससे सिद्ध है कि वैयक्तिक शान्तिके लिये भी धार्मिक राज्यका सुप्रबंध चाहिये, फिर सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वशान्ति बिना तो अच्छे राज्य-प्रबंधक स्थापित हो ही नही सकती।

तीन शान्तियोंकी स्थापनाका ध्येय कदापि बिना राज्यशासनकी अनुकूलताके नही सिद्ध हो सकता। ओंकारके द्वारा बतायी उन्नति और सुरक्षा भी बिना राज्यप्रबंधके नहीं हो सकती। 'ईश' शब्दसे भी ईशन-क्रिया करनेवालेका अर्थात् शासनकर्म करनेवालेका बोध हो सकता है। इसलिये यहां संसारका त्याग अभीष्ट नही है, परंतु संसारके राज्यशासनका सुप्रबंध ही अभीष्ट है, इसलिये मैंने कहा कि यह राज्यशासनका शास्त्र है। देखो ईशोपनिषद्के प्रारंभका वचन यह है—

एक और दूसरे राज्यपर आक्रमण करता है, उसको अपने सैन्य बलसे घेरता है, उस राज्यमें घुसता है, वहां रहने लगता है, वहां राज्य करता है, उस राज्यके लोगोंको अपना दास बनाता है उनसे प्रणाम और पूजा लेता है इसका एकमात्र कारण यह है कि उस विजयी बीरमें वैसा सामर्थ्य है और उस पराजित राष्ट्रमें वैसा सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य कम होनेसे ही पराभव या पारतन्त्र्य होता है। इसलिये वेदमन्त्रमें कहा है कि (ईशा इदं सर्वं वास्य) शासन-सामर्थ्य जिसमें है उसके द्वाराही यह सब संसार घेरने, व्यापने और प्रशासन करने योग्य है। निर्बलके लिये यहां शासक होनेकी कोई आशा नहीं है। निर्बल शासक हुआ तो उसको अपने स्थानसे अपनी निर्बलताके कारण हटना ही पडेगा। जो समर्थ होगा वही यहांका शासक हो सकता है।

शिष्य—' ईश्वर सर्वत्र व्यापक है ' इतना ही इस मन्त्रभागका अर्थ सब टीकाकार तथा प्रवचनकार मानते हैं। परंतु आप तो इसका अर्थ राज्यशासनविषयक बता रहे हैं यह कैसे ?

गुरु—शान्ति मन्त्रके अर्थके मननसे तथा तीन शान्तियोंके मननसे हमने देखा कि, तीन शान्तियोंकी स्थापनाका कार्य बिना राज्यशासनप्रबंधके नहीं हो सकता, अतः जो तीन शान्तिस्थापनाका कार्य है वह राज्यशासनप्रबंधसेही होनेवाला है यह निश्चित है। यहां इस तत्त्वज्ञानका संबंध राज्यशासनके साथ जुड चुका है। अब बात रही की ' ईशा इदं सर्वं वास्य ' इसका क्या अर्थ है यह देखना। तो ' ईश ' पदका अर्थ ' स्वामी, अधिकारी, शासक, नियामक, राजा, शासनकर्ता, राज्यशासन करनेवाला ' यह है। ये इसके अर्थ प्रसिद्ध हैं। अतः ' शासक अपने शासनसामर्थ्यसे इस सब जगत्‌का शासन करनेयोग्य है ' यही इसका मूल अर्थ है जो सर्वथा राज्यशासनका महत्त्वपूर्ण संदेश देता है, सब देशोंका राजकारणका इतिहास इसी सिद्धान्तकी साक्षी देता है। ' ईशा इदं सर्वं वास्य ' ईश इस सबमें वसता है, इस सबको आच्छादित कर रहा है इसका शासन करता है, इसका प्रबंध करता है, इसका अर्थ ही यह है कि

'समर्थ अपने सामर्थ्यसे जगत्पर शासन करता है' यह कार्य निर्बलसे नहीं हो सकता। 'ईश' का अर्थ व्यक्तिके देहमें 'आत्मा', राष्ट्रमें राजा या अध्यक्ष, और ब्रह्माण्डमें अथवा विश्वमें 'परमात्मा' है। पर सर्वत्र नियम एक ही है वह यह कि '**सामर्थ्यवान् अपने निज सामर्थ्यसे इस जगत्पर शासन करता है।**' राज्यशासनका ही यह भाव है। क्योंकि बिना अध्यात्म सिद्धान्तोंपर आरूढ राज्यशासनकी अनुकूलताके मानवी उन्नति नहीं हो सकती, इसलिये प्रायः ये आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त राज्यशासनका शुद्ध स्वरूप दिखानेके लिये ही हैं। इस बातका आजतक किसीने विचार नहीं किया इसीसे भारतीयोंकी हानि हुई है। परन्तु अबतक जो हो चुका वह हुआ, भविष्यके लिये तो हमें इस विचारको जाग्रत करना चाहिये और देखना चाहिये कि अध्यात्म-सिद्धान्तोंका राजकीय स्वरूप क्या है। यह हम इस उपनिषद्के मननमें देखेंगे। आगे दूसरा सिद्धान्त देखिये —

द्वितीय सिद्धान्त— 'समष्टि-व्यष्टिका सहकार्य'

२ यत् किंच जगत्यां जगत्।

'जो कुछ (यहां है) वह समष्टिके आधारसे व्यष्टि (ऐसा है।)

(२) समर्थ अपने सामर्थ्यसे इस जगतपर प्रशासन करता है। यह जगत् '**समष्टिके आधारसे व्यष्टि**' ऐसी पद्धतिसे यहां है। मानव-समष्टिके आश्रयमें एक मानव व्यक्ति रहता है। 'जगत्' एक पदार्थ है और अनेक जगतोंका समूह 'जगती' है। समाजके आधारसे व्यक्ति रहता है। संघके आधारसे एक व्यक्ति रहता है। 'जगत्यां' यहां आधारार्थक सप्तमी है। जगत्समूहके आधारसे एक व्यक्ति रहता है।

व्यक्ति मरता रहता है, पर संघ अमर है। एक हिंदु मरता है, पर हिंदु-समाज अमर है। 'सम्भूत्या अमृत' (ईश) संघसे अमरपन है। संगठित समाज शाश्वत रह सकता है पर कितना भी श्रेष्ठ व्यक्ति हुआ तो भी वह मरनेवाला है। कितना भी यत्न किया जाय तो भी व्यक्ति अमर नहीं हो

सकता, परन्तु संघ अमर रहता है। व्यक्तिका आधार संघ है। व्यक्तिका बल संघके आश्रयसे है। जो बलवान व्यक्ति हुए उनको संघका बल प्राप्त हुआ था। संघकी शक्ति पीठपर रही तो ही व्यक्ति समर्थ हो सकता है और वह उस सामर्थ्यसे समाज या राष्ट्रका शासन कर सकता है।

समाज स्वतन्त्र है, व्यक्ति समाजका सामर्थ्य प्राप्त करके ही कार्य कर सकता है। इसलिये समाज मुख्य है और व्यक्ति गौण है। चूंकि समाजके आश्रयसे व्यक्तिका अस्तित्व है तथा व्यक्ति नाशवान है इसलिये सब धन ऐश्वर्य आदि संघका है व्यक्तिका नहीं। धन किसी व्यक्तिके पास हो, पर उसपर समाजका अधिकार है और व्यक्ति केवल विश्वस्त है। जबतक उस धनका विश्वस्त होकर ही व्यक्ति कार्य करता रहेगा, तबतक उससे कोई उपद्रव नहीं होगा। पर जिस समय वह विश्वस्त नहीं रहेगा, उस समय वही धनी व्यक्ति समाजमें उपद्रव उत्पन्न करेगा। इसलिये व्यक्तिको विश्वस्त होकर धनका उपयोग करना चाहिये।

व्यक्तिके पास धन हो, पर मरनेके समय उस धनपरका उसका अधिकार नष्ट होता है, सब धन यहां छोडना पडता है। इसलिये सब जान सकते हैं और अनुभवसे कह सकते हैं कि धन व्यक्तिका नहीं। इसीलिये यह धन समाजका है। क्योंकि समाज मरता नहीं, कमसे कम व्यक्तिकी अपेक्षासे समाज शाश्वत है। जो शाश्वत है उसीका सब धन है। उसीके सुख और आरोग्यके लिये सब धन है। इसमें व्यक्तिका सुख और आरोग्य आ जायगा।

समाजका शाश्वतपन और व्यक्तिकी अशाश्वतता देखनी चाहिये और व्यक्ति तथा समाजका सहकार कराकर दोनोंके विकास करनेका नियोजन नियत करना चाहिये। यह राष्ट्रीय नियोजनसे ही हो सकेगा। व्यक्तिके प्रयत्नसे कुछ बनेगा नहीं।

जगत्‌में संघवादी और व्यक्तिवादी ऐसे दो पक्ष प्रबल हैं। संघवादी व्यक्तिको पूर्ण परतन्त्र करके उसकी स्वतन्त्रताको मारते हैं और व्यक्तिवादी

संघशक्तिकी पर्वा न करके व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करके समाजको प्रति निर्बल बना देते हैं। ये दोनो ही पक्ष अयोग्य हैं, तथा मानवताके विनाशक हैं। इसलिये इसी सूक्तने आगे (यः तत् उभयं सह वेद) दोनोका सहकार अच्छा लाभकारी है ऐसा कहा है। यही सहकार वेदको समत है और यह मानवोंके लिये लाभकारी भी है ।

तृतीय सिद्धान्त— ' त्यागसे भोग '

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।

' (समाजके आधारसे व्यक्ति रहना है) इसलिये त्यागसे भोग करो । '

(३) समाजके आधारपर व्यक्ति रहना है, यह द्वितीय सिद्धान्त कहा। इसीसे व्यक्तिके भोगोपर नियत्रण आगया है। समाज है और समाजका धन है, मैं केवल विश्वस्त हूँ इसलिये मुझे उचित है कि मैं सम जहितके लिये अपने धनका योग्य विभाग प्रदान करके मैं अपने सुखके लिये अवशिष्टका भोग भोगू। व्यक्तिके भोगपर यहा समाजका नियंत्रण आ रहा है। व्यक्ति अपने भोग ऐसे न बढावे कि जिससे समाजके दूसरे लाग वंचित रहे, भूखे रहें, नगे रहे, बिना आश्रयके रहे ।

शिष्य—त्यागसे भोग किस तरह हो सकता है ? भोगसे तो भोग हो सकता है। पर त्यागसे भोग कैसा होगा ।

गुरु—भोगसे भोगका अर्थ स्वय उपभोग करना। पर मनुष्यकी उपभोग शक्ति मर्यादित है। जलेबी जितनी चाहे उतनी मनुष्य खा नही सकता, स्त्रीसंबंध अमर्याद कर नही सकना, एक समय अनेक वस्त्र पहन नहीं सकता, अनेक घर या अनेक वाहन उपयोगमे नहीं ला सकता। इस तरह भोगसे भोग करनेमे मनुष्यके लिये मर्यादाए है। इस कारण अमर्यादा भोग-साधन अपने पास संग्रहीत करनेसे मनुष्यको कोई लाभ नहीं हो सकता। इसीलिये ' अपरिग्रहवृत्ति ' से रहनेका उपदेश शास्त्रकारोने किया है। इससे स्पष्ट हुआ कि भोगसे भोग मनुष्य बहुत कर ही नही सकता ।

अब त्यागसे भोग देखिये । यह जितना चाहिये उतना किया जा सकता है आपके पास बहुत अन्न हो तो बहुतोंको आप खिला सकते हैं, खिलाइये और उनके समाधानसे आप अटूट समाधान प्राप्त कीजिये । यह त्यागसे भोग जितना चाहिये उतना हो सकता है और यह समाजका, संघका, जातिका, राष्ट्रका अथवा देशका बल बढा सकता है । सबके लिये यह हितकारी है । इसलिये त्यागसे भोग करना चाहिये यही युक्तियुक्त है ।

शिष्य—' तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ' इस मन्त्रभागका अर्थ ' उस ईश्वरने दिये भोगोंका भोग कर ' ऐसा सब करते हैं और आपने तो ' इस हेतुसे त्यागसे भोग कर ' ऐसा अर्थ किया है, यह कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है ?

गुरु—देखो ! ' तेन ' यह पद उसके निकट पूर्वके पदोंके साथ संबंध रख सकता है। बहुत दूर स्थित पूर्व पदोंसे संबंध मानना यह दूरान्वय है । दूरान्वय दोष है । वेदका अर्थ करनेमें दूरान्वय दोष नहीं होना चाहिये । निकट पूर्वमें ' जगत्यां जगत् ' ये पद हैं इनका अर्थ ' समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है ' यह है । इसलिये ' इस हेतुके लिये त्यागसे भोग व्यक्तिको करना उचित है । ' यह पूर्वापर संबंध देखकर इसका सरल अर्थ हुआ । व्यक्ति सर्वथा समाजके आधारसे जीवित रहनेवाला है इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह अपना सर्वस्व समाजके लिये अर्पण करे और समाजके ऋणसे उऋण हो जावे । यह हेतु बतानेवाला ' तेन ' पद है । अतः इसका अर्थ ' इसलिये, इस कारण, इस हेतुसे, इस प्रयोजनसे ' ऐसा है । यह पूर्वापर संबंधसे अर्थ होनेसे यह युक्तियुक्त है और हम बता भी सकते हैं, कि ऐसा न करना दुःखका हेतु हो सकता है । यदि कोई व्यक्ति अपने पास सब भोग संग्रह करके रखता है और समाजको उनका समर्पण करता नहीं तो वह समाजमें दुःख बढाता है । कई व्यक्ति दुःख भोगते हैं और वे दुःखित व्यक्ति बलवा मचाते हैं और सब समाज अस्वस्थ हो जाता है ।

अब और भी देखिए। यदि 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' पदोका अर्थ 'ईश्वरने दिये भोगोंका भोग कर' ऐसा किया जायगा तो उसका भाव यह होगा कि जो धन जिसके पास है वह उसको ईश्वरने दिया है ऐसा वह माने और उसका भोग वह करे। लखपति करोडपति समझते ही हैं कि उनको वह धन परमेश्वरने दिया है, इसलिये उस धनपर उनका अधिकार है, अत वे उसका अपने लिये भोग कर सकते हैं। यह धनियोंके लिये जैसा चाहिये वैसा ही अर्थ है और आजके व्यवहारके अनुकूल भी अर्थ है। पर यह अर्थ, 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' इसका नहीं है। एक तो परमेश्वरने किसको क्या दिया, इसका भी पता नही होता। किसी तरह शुभाशुभ मार्गोंसे प्राप्त किया धन अपने ही भोगके लिये है यह आसुरी वृत्ति है। इसीका समर्थन यज्ञीय जीवनका आदर्श मनुष्यके सामने रखनेवाला वेद करे यह मानना अयोग्य है। अत सब धन यज्ञके लिये है ऐसा वेदका आशय जो अन्यत्र भी प्रकट होता है वही यहा मानना योग्य है। और सब धन व्यक्तिका नहीं, यज्ञके लिये है, समाजके लिये है, उसका उपयोग समाजके लिये होना चाहिये, ऐसा मानना योग्य है। इसलिये 'इस हेतुसे यज्ञ करके यज्ञावशिष्टका भोग अपने लिये करो' ऐसा हमने अर्थ किया है। और यही अर्थ युक्तियुक्त है और यही व्यक्तिका जीवन यज्ञमय बनानेवाला होनेसे आदरणीय है।

चतुर्थ सिद्धान्त— 'लोभका त्याग'

४ मा गृधः।

'लोभ न धर। मत ललचा'

(४) व्यक्तिके लोभसे ही समाजमें अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति शाश्वत टिकनेवाली भी नही है यह तो मरनेवाली है। कितने भी साधन किये तो भी एक व्यक्ति उस व्यक्तिके रूपसे शाश्वत रह नहीं सकती। अत एक व्यक्तिने लोभ धारण करके यह धन मेरा है ऐसा मानकर अपने भोगके

लिये अत्यधिक भोगोंका संग्रह किया, तो भी मृत्युके बाद वे सब भोग छोड़कर उनको जाना ही पड़ेगा। सहस्रों यत्नोंके करनेपर भी वह धन उस कारण उसका है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण अशाश्वत व्यक्तिका धन नहीं है, उस व्यक्तिको वह धन छोडना ही पडता है। वह किसके पास वह देता है? समाजके पास देता है। लोग मानते हैं कि पुत्रके लिये छोडता है, पर यह धारणा भी अशुद्ध है, छोडनेवाला समाजके लिये छोड देता है, पुत्र उसपर अपना अधिकार जमा देता है, पर वह भी अपने पिताके समान ही किसी दिन उसको छोड ही देता है। अतः अन्तमें वह समाजका होकर रहता है। अपुत्रका धन समाजका या राष्ट्रका होता है इसका अर्थ यही है, कि जिसका वह था उसके पास वह पहुंच गया। इसलिये किसी एक व्यक्तिका कोई धन नहीं है। उसका जीवन भी समाजसेवाके लिये ही है, उसने भोग, भोगकर जीवित रहना है वो वह समाजसेवा–जनताजनार्दनकी सेवाके लिये ही है। इसलिये व्यक्ति यह समझे कि मैं इस धनका विश्वस्त हूं और विश्वस्त जैसा व्यवहार व्यक्ति करे और धनको समाजकी सेवामें लगावे अर्थात् उसका यज्ञ करे। धनका उपयोग यही है। अतः कहा है कि 'लोभका त्याग करो।' लोभसे ही सब दुःख होते हैं।

पञ्चम सिद्धान्त—' धनपर प्रजापतिका अधिकार '

५ कस्य स्विद् धनम् ॥

' किसका भला धन है ? ' (प्रजापालकका धन है।)

(५) किसका धन है? क्या व्यक्तिका धन है? व्यक्ति शाश्वत नहीं रहता। इसलिये व्यक्तिका धन नहीं है। फिर धन किसका भला है? सोचो, विचारो, मनन करो। और विचारपूर्वक जान लो कि व्यक्ति जिस धनको छोडकर चला जाता है वह धन समाजका ही होता है। जिसका सचमुच था उसका वह हो जाता है। इसलिये पहिलेहीसे मान लो कि यह सब धन समाजका ही है।

'कः' नाम 'प्रजापति' का है। यह धन प्रजापतिका है, प्रजाकी पालनाके लिये ही यह धन है। प्रजापति प्रजाका रक्षक और प्रजाका सच्चा प्रतिनिधि है, यह आद्य सेवक है। इसके पास सब धन रहेगा और वही प्रजापालनके कार्यमे उसका व्यय करेगा। यह राज्य प्रबंधद्वारा ही होगा।

प्रजा, समाज या राष्ट्र शाश्वत रहनेवाला है, व्यक्ति मरते रहेंगे। इसलिये व्यक्तिका धन नही, परंतु वह सब धन समाजका है। जो जिसका है वह उसीके लिये व्यय होना उचित है। इस उद्देश्यको प्रकट करनेके उद्देश्यसे 'क' का अर्थ शतपथ ब्राह्मणकारने 'कः वै प्रजापतिः' अर्थात् 'क' का अर्थ 'प्रजापति' बताया है। प्रजापति प्रजाका पालक है और जो अपने पास धन रखता है वह प्रजाकी पालनाके लिये ही रखता है। प्रजापति यह व्यक्ति नही है वह कार्यालय है। एक प्रजापतिका व्यक्ति मर गया तो दूसरा प्रजापति उस कार्यालयमे आता है अथवा प्रजा दूसरेको वहाके कार्यके लिये नियुक्त करती है। इस तरह कार्यालयके रूपमे प्रजापति स्थायी रहता है। क्योंकि प्रजा सनातन रहनेवाली है इसी तरह प्रजापति कार्यालयके रूपमे स्थायी रहनेवाला है व्यक्तिके रूपमे न रहे। इसलिये प्रजापतिका धन और प्रजाका धन इसका एक ही भाव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि धन प्रजापालक संस्थाका है किसी एक व्यक्तिका नही है। व्यक्ति विश्वस्तके रूपमे धनको अपने पास रखे, पर समाजको या राष्ट्रको आवश्यकता उत्पन्न होनेपर व्यक्तिको वह धन प्रजापालकके हवाले करना चाहिये।

सरकार प्रजाका पालन करनेके लिये प्रजासे कर रूपसे धनिकोसे जो धन लेती है उसका यही कारण है। अस्तु।

शिष्य—आपने तो यह सब राज्यशासन और करग्रहणके स्वरूपमे जो कहा वह निःसंदेह नया विवरण है। आजतकके टीकाकार '**मा गृध कस्य स्विद्धनं**' का अर्थ 'किसीके धनका लोभ न कर' ऐसा करते है। आपने इसके दो टुकडे किये और पृथक् पृथक् सिद्धान्त रूपसे इनका राज्यशासनका भाव बताया। इसलिये संदेह होता है कि '**मा गृधः। कस्य स्विद्धनं**'?

ऐसे दो विभाग इसके हैं अथवा 'मा गृधः कस्य स्विद्धनं' ऐसा एक ही यह वाक्य है ?

गुरु—टीकाकारोंने 'मा गृधः कस्य स्विद्धनं' ऐसा एक ही वाक्य मानकर अर्थ किया है यह मैं जानता हूं। पर तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वह ठीक नहीं है। किसीके धनका अपहरण न कर यह कहनेकी ही आवश्यकता नही है। जो दूसरेका है वह लेनेसे चोरी होगी और चोरी तो नहीं करनी चाहिये। यह विना कहे भी सर्वमान्य आचार है। वह धन दूसरेका है, इसीसे सिद्ध हुआ कि उसका अपहरण करना नहीं चाहिये। पर इससे अर्थापत्तिसे एक महा अनर्थकारक विचार प्रकट होता है वह यह कि—

'दूसरेके धनका तो तू अपहरण करके उसका भोग न कर, परंतु अपने धनका भोग यथेच्छ करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।' यह राष्ट्रीय स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बड़ा अनर्थकारक और हानिकारक भाव है। समाज और व्यक्तिका संबंध बताकर कोई कहे कि समाज स्थायी है और व्यक्ति मरनेवाला है, इसलिये धन सब समाजका है, वह किसी एक व्यक्तिका नहीं, यह उत्तम सिद्धान्त बतानेके पश्चात् यदि वेदने अपने धनका यथेच्छ उपभोग लेनेकी अनुमति दी तो इससे पूर्वका सब कथन ही टूट गया ऐसा सिद्ध होगा। और यह अयोग्य ही होगा। कई लोग करोडपति होते हैं, वे अपने धनका स्वयं भोग करें। यह कहना स्वार्थको बढाना है, यह युक्तियुक्त भी नहीं। परिग्रह वृत्ति व्यक्तिमें न रहेगी तो वह समाजकी शान्तिमें उपद्रव उत्पन्न करेगी। इसलिये मनुष्योंको अपरिग्रहकी ओर लाना चाहिये। इसलिये—

१ त्यक्तेन भुञ्जीथाः = त्यागसे भोग कर,

२ मा गृधः = लोभ न कर,

३ कस्य स्वित् धनं = किसका भला धन है ? (निःसंदेह प्रजापालकका धन है।

ये तीन उपदेश अपरिग्रहकी ओर जनताको ले जाते हैं और सामाजिक शान्तिके लिये ये तीनों योग्य तथा आवश्यक भी हैं। इसलिये ऐसे ही विभाग

करके अर्थ करना योग्य है। ' (१) त्यागसे भोग, (२) लोभका त्याग, (३) व्यक्तिका धन नहीं ' ये सिद्धान्त एक विशेष ध्येयकी ओर जनताको आकर्षित करते हैं। उसके स्थानपर—

१ ईश्वरने दिये धनका भोग कर

२ किसीके धनका अपहरण न कर

इसमें अपने धनका यथेच्छ उपभोग करनेकी आज्ञा दी है। इस प्रवृत्तिसे पूंजीपतिवाद निर्माण होता है जो जनतामें अशान्ति निर्माण करता है। इसको हटानेके लिये (१) त्यागसे भोग, (२) लोभका त्याग, (३) धन प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका नहीं ये उपदेश विशेष उच्च सामाजिक व्यवस्थाकी घोषणा कर रहे हैं और यह सामाजिक व्यवस्था निःसंदेह विशेष उच्च मानवताकी स्थापना राष्ट्रमें करनेवाली है।

राज्य शासनमें इन सिद्धान्तोंका पालन होना चाहिये। अच्छे राज्यशासनमें इन सिद्धान्तोंका पालन होता है।

षष्ठ सिद्धान्त = ' कर्मयोगका आचरण '

६ कुर्वन्नेवेह कर्माणि।

' यहां कर्मोंको करते रहो। '

(६) यहां कर्मोंको करना चाहिये। इस संसारमें कर्मयोगका आचरण अवश्य करना चाहिये। ' कर्म, अकर्म और विकर्म ' ये कर्मके तीन भेद हैं। जो व्यक्तिका और समाजका घात करनेवाले होते हैं वे ' विकर्म ' हैं, ये कर्म करने नहीं चाहिये। व्यक्तिकी अवनति और समाजकी अधोगति जिससे होती है वह विकर्म है, वह करना नहीं चाहिये। व्यक्तिका अस्तित्व टिकनेके लिये ही केवल जो साधन होते हैं वे ' अकर्म ' हैं जैसे व्यक्तिका स्नान, भोजन आदि। ये समाजकी दृष्टिसे अकर्म हैं। ये करनेसे भी समाजकी स्थितिमें विशेष परिवर्तन नहीं होता। केवल व्यक्तिको ये सुरक्षित रखते हैं। इसलिये करनेपर भी ये सामाजिक दृष्टिसे ये न करनेके बराबर ही हैं।

व्यक्तिने अपने लिये स्नान किया, व्यायाम किया, भोजन किया, कपड पहने लिये तो विशेष कुछ न बना । इसलिये इनके करनेपर भी न करनेके समान ही समाजस्थिति रहती है इसलिये ये 'अकर्म' हैं। ये करने अवश्य चाहिये । पर इतने ही करनेसे मनुष्य कृतकृत्य नही हो सकता । इस तरह विकर्म करने नहीं चाहिये, और अकर्म करने चाहिये, पर वे सामाजिक या राष्ट्रकी सामूहिक दृष्टिसे न करनेके समान ही हैं । इसलिये अब अवशिष्ट रहे 'कर्म' ये हरएकको अवश्यमेव करने चाहिये ।

कर्म वे हैं कि जो समाज, समष्टि, तथा राष्ट्रकी उन्नतिके लिये साधक होते हैं । सर्वजनहितकारक कर्म, जनताकी उन्नतिके लिये आवश्यक तथा साधक कर्म । जैसा नगरका आरोग्य संरक्षण, सार्वजनिक शिक्षण, आदि सर्वजनहितके अनेकानेक कर्म इस कर्ममें आते हैं । इनका ही नाम यज्ञ है । ये भी श्रेष्ठतम कर्म होनेयोग्य करने चाहिये । कर्म, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म ऐसे इन कर्मोंमें भेद हैं । यत्न ऐसा करना चाहिये कि अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म हो । उत्तमसे उत्तम कर्म पूर्ण कुशलताके साथ उत्तम त्यागभावसे करने चाहिये ।

ऐसे कर्म करनेका नाम ही कर्मयोग है । इसका आचरण करना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य ही है । इसके करनेसे ही मनुष्य कृतकृत्य होता है । सार्वजनिक हितके कर्म करना इस तरह प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है । ये कर्म करनेका आदेश यहां दिया है ।

राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी शासन-व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे मनुष्य अवनतिकारक विकर्म न करे । यदि कोई करे, तो उसको राज्यशासन द्वारा योग्य दण्ड दिया जावे, जिससे अन्य लोग वैसा हानिकारक कर्म न करे । प्रत्येकने अस्तित्वके लिये आवश्यक स्नान-भोजन आदि अकर्म प्रत्येक करे । इसमें कोई बाधा न डाले ऐसा करना राज्यशासनका कर्तव्य है । प्रत्येकको रहनेके लिये स्थान हो, खानेके लिये योग्य अन्न हो, ओढने पहननेके लिये

वस्त्र मिले, करनेके लिये योग्य काम मिले और कार्य करनेपर योग्य धन भी मिले, बीमार होनेपर रोगशमनार्थ औषधि मिले, योग्य समयमें विश्राम मिले, मनोरंजनके लिये अवसर मिले, आवश्यक शिक्षण मिले, इस तरह प्रत्येक व्यक्ति उत्तम कर्म उत्तम रीतिसे करनेमें समर्थ होने योग्य प्रबंध राज्यव्यवस्था द्वारा हो और कोई मनुष्य इन आवश्यकताओंसे वंचित न रहे। इसकी देखभाल राज्यशासनके द्वारा हो।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सुयोग्य कर्ममें कुशल बननेपर अपने कर्मसे समाजकी सेवा करनेके लिये श्रेष्ठसे श्रेष्ठ कर्म करता रहे। अपने कर्मसे ही राष्ट्र-पुरुषकी सेवा करनी चाहिये। यह सेवा हरएक करे और कोई उसके मार्गमें प्रतिबंध न कर सके ऐसी राज्यव्यवस्था हो।

सप्तम सिद्धान्त— ' दीर्घायु बनो '

७ जिजीविषेच्छतँ समाः ।

' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करे । '

(७) शतायुषी होनेकी महत्त्वाकांक्षा मनमें धारण करनी चाहिये। आज कल 'क्षणभंगुर संसार' का अवैदिक वाद प्रचलित हुआ है। सभी आज बोलते हैं कि ' यह दुनिया दो दिनकी है ' सब नाशवंत है, सब संसार क्षणिक है। ये सब विचार अवैदिक हैं, ये सब दूर करने चाहिये और ' मैं सौ वर्ष जीऊंगा, सौ वर्ष प्रवचन करूंगा, सौ वर्ष श्रेष्ठ कर्तव्य करता रहूंगा और सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवित रहूंगा ' ऐसे वैदिक विचार मनमें धारण करने चाहिये। जो जैसी इच्छा करता है वैसा वह बनता है। इसलिये क्षणभंगुरवादी शीघ्र विनष्ट होते हैं और शतायु होनेकी इच्छा करनेवाले दीर्घजीवी होते हैं।

यहां (शतं समाः जिजीविषेत्) सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ऐसा कहा है इसका अर्थ केवल १०० वर्ष इतनेही नहीं है। ' इच्छा ' प्रौढ मनुष्य करता है। बालक या युवक इच्छा करनेमें और उसे प्रभावी बनानेमें असमर्थ ही है। ८ वर्षका बालपन और उसके पश्चात् १२ वर्षका ब्रह्मचर्य

व्यक्तिने अपने लिये स्नान किया, व्यायाम किया, भोजन किया, कपडे पहन लिये तो विशेष कुछ न बना । इसलिये इनके करनेपर भी न करनेके समान ही समाजस्थिति रहती है इसलिये ये 'अकर्म' हैं । ये करने अवश्य चाहिये । पर इतने ही करनेसे मनुष्य कृतकृत्य नहीं हो सकता । इस तरह विकर्म करने नहीं चाहिये, और अकर्म करने चाहिये, पर वे सामाजिक या राष्ट्रकी सामुहिक दृष्टिसे न करनेके समान ही हैं । इसलिये अब अवशिष्ट रहे 'कर्म' ये हरएकको अवश्यमेव करने चाहिये ।

कर्म वे हैं कि जो समाज, समष्टि, तथा राष्ट्रकी उन्नतिके लिये साधक होते हैं । सर्वजनहितकारक कर्म, जनताकी उन्नतिके लिये आवश्यक तथा साधक कर्म । जैसा नगरका आरोग्य सरक्षण, सार्वजनिक शिक्षण, आदि सर्वजनहितके अनेकानेक कर्म इस कर्ममें आते हैं । इनका ही नाम यज्ञ है । ये भी श्रेष्ठतम कर्म होनेयोग्य करने चाहिये । कर्म, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म ऐसे इन कर्मोंमें भेद है । यत्न ऐसा करना चाहिये कि अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म हो । उत्तमसे उत्तम कर्म पूर्ण कुशलताके साथ उत्तम साधनोंसे करने चाहिये ।

ऐसे कर्म करनेका नाम ही कर्मयोग है । इसका आचरण करना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य ही है । इनके करनेसे ही मनुष्य कृतकृत्य होता है । सार्वजनिक हितके कर्म करना इस तरह प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है । ये कर्म करनेका आदेश यहां दिया है ।

राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी शासन-व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे मनुष्य अवनतिकारक विकर्म न करे । यदि कोई करे, तो उसको *राज्यशासन द्वारा* योग्य दण्ड दिया जावे, जिससे अन्य लोग वैसा हानिकारक कर्म न करे । प्रत्येकके अस्तित्वके लिये आवश्यक स्नान-भोजन आदि अकर्म प्रत्येक करे । इसमें कोई बाधा न डाले ऐसा करना राज्यशासनका कर्तव्य है । प्रत्येकको रहनेके लिये स्थान हो, खानेके लिये योग्य अन्न हो, ओढने पहननेके लिये

वस्त्र मिले, करनेके लिये योग्य काम मिले और कार्य करनेपर योग्य धन भी मिले, बीमार होनेपर रोगशमनार्थ औषधि मिले, योग्य समयमे विश्राम मिले, मनोरजनके लिये अवसर मिले, आवश्यक शिक्षण मिले, इस तरह प्रत्येक व्यक्ति उत्तम कर्म उत्तम रीतिसे करनेमे समर्थ होते योग्य प्रबध राज्यव्यवस्था द्वारा हो और कोई मनुष्य इन आवश्यकताओंसे वचित न रहे । इसकी देखभाल राज्यशासनके द्वारा हो ।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सुयोग्य कममे कुशल बननेपर अपने कर्मसे समाजकी सेवा करनेके लिये श्रेष्ठसे श्रेष्ठ कर्म करना रहे। अपन कर्मसे ही राष्ट्र-पुरुषकी सेवा करनी चाहिय । यह सेवा हरएक करे और कोई उसके मार्गमे प्रतिबध न कर सके ऐसी राज्यव्यवस्था हो ।

सप्तम सिद्धान्त— ' दीर्घायु बनो '

७ जिजीविषेच्छतँ समाः ।

' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करे । '

(७) शतायुषी होनेकी महत्त्वाकाक्षा मनम धारण करनी चाहिये । आज कल 'क्षणभगुर ससार' का अवैदिक वाद प्रचलित हुआ है। सभी आज बोलते हैं कि ' यह दुनिया दो दिनकी है ' सब नाशवत है, सब ससार क्षणिक है। ये सब विचार अवैदिक हैं, ये सब दूर करने चाहिये और ' मैं सौ वर्ष जीऊगा, सौ वर्ष प्रयत्न करुगा, सौ वर्ष श्रेष्ठ कर्तव्य करता रहूगा और सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवित रहूगा ' ऐसे वैदिक विचार मनम धारण करने चाहिये । जो जैसी इच्छा करता है वैसा वह बनता है। इसलिये क्षणभगुरवादी शीघ्र विनष्ट होते हैं और शतायु होनेकी इच्छा करनेवाले दीर्घजीवी होते हैं ।

यहा (शत समाः जिजीविषेत्) सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ऐसा कहा है इसका अर्थ केवल १०० वर्ष इतनेही नही है । ' इच्छा ' प्रौढ मनुष्य करता है। बालक या युवक इच्छा करनेमे और उसे प्रभावी बनानेमे असमर्थ ही हैं । ८ वर्षका बालपन और उसके पश्चात् १२ वर्षका ब्रह्मचर्य

अर्थात् विद्याध्ययनकी आयु मिलकर २० वर्ष होते हैं। इस बीसवें वर्ष मनुष्य विद्वान् और अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्तिसे अपना भविष्य बनानेवाला होता है। अत. ये २० वर्ष और १०० वर्ष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी आयु मिलकर १२० वर्षकी आयु होती है। २० वर्ष होनेपर ही सौ वर्ष मैं जीऊंगा और उससे पहिले नहीं मरूंगा ऐसी इच्छा मनुष्य कर सकता है। इस तरह मानवी आयु १२० वर्षकी है। फलज्योतिष जन्मपत्री बनाते हैं वे विंशोत्तरी (१२० वर्ष आयु) मानकर करते हैं। दूसरा गणित अष्टोत्तरी (१०८ वर्षकी आयु) मानकर किया जाता है। इस तरह १०८ या १२० वर्षकी आयु सामान्यत. ज्योतिषमें मानी है। इसलिये १०० वर्षकी आयु अपनी हो ऐसी इच्छा मनुष्य तरुण बननेपर करें यह इस मंत्र द्वारा कहा है।

वैदिक समयमें कई लोग १९० या १७० वर्ष भी जीवित रहते थे और कई ७० या ८० वर्षमें यह शरीर छोडते थे। इस तरह औसत आयु राष्ट्रके वीरोंकी १०० वर्षकी होती है। राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी सुचारु व्यवस्था होनी चाहिये, कि राष्ट्रके प्रजाजनोंकी औसत आयु १०० वर्षकी बने।

इस समय भारत वर्षके लोगोंकी औसत आयु २५ वर्षकी है, यूरप अमेरि॰ कामें यह ६७ वर्षकी है। वैदिक राज्यशासनमें यह औसत आयु १०० वर्षकी थी। राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी औसत आयु बढ जाती है।

बालमृत्यु, अल्प आयुमें मृत्यु तथा अकाल मृत्युका उत्तरदायित्व राज्य॰ शासनपर सर्वथा है। अकेला व्यक्ति इस विषयमें कुछ कर नहीं सकता। राष्ट्रका आरोग्य संवर्धन, राष्ट्रका जीवनक्रम, राष्ट्रमें शान्ति, राष्ट्रमें धर्मका आचार तथा शील जितना होगा, उतनी आयु राष्ट्रकी बढ सकती है।

राष्ट्रका शासन-प्रबंध ऐसा होना चाहिये कि जिससे राष्ट्र पुरुषोंकी आयु बढती जाय और वह औसत १०० वर्षतक पहुंच जाय। राज्यशासन ठीक है या नहीं वह इससे सिद्ध हो सकता है।

अष्टम सिद्धान्त— ' श्रद्धाकी धारणा '

८ एवं त्वयि

' ऐसा (ज्ञान) तेरे अन्दर (स्थिर रहे।) '

(८) इस समयतक जो सात सिद्धान्त कहे, उनमे जो आदेश दिये हैं वे साधकके अन्दर स्थिर रहे। इस समयतक यह ज्ञान दिया है-(१)जिसमें शासनसामर्थ्य होगा वही इस विश्वपर प्रभुत्व कर सकता है, (२) इस विश्वमे संघके आधारपर व्यक्ति रहता है, अतः संघ स्थायी तथा मुख्य है और व्यक्ति संघकी सेवा करनेके लिये है। व्यक्ति मरता है पर संघ अमर रहता है, (३) इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह अपने भोगोंका समाज-हित करनेके उद्देश्यसे यज्ञ करे और यज्ञ करके जो अवशिष्ट रहेगा, उसका स्वयं भोग करे, (४) लोभ नहीं करना चाहिये, लोभके कारण सब दोष होते हैं, (५) धन प्रजापतिका है और वह सब प्रजाजनोके हित करनेके लिये है, धन किसी भी व्यक्तिका नहीं है, (६) इस जगत्मे समाजहित करनेके लिये मनुष्य विविध श्रेष्ठतम कर्तव्य करता रहे, आलस छोड देवे, और (७) मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहनेकी महत्त्वाकाक्षा धारण करे और तदर्थ यत्न करता रहे। यह सप्तविध धर्म इस समयतक कहा है।

यह सात प्रकारका धर्म मनुष्यके अन्तःकरणमे सुस्थिर रहे। किसी तरह मनुष्य इसको न भूले। इन सिद्धान्तोपर अचल श्रद्धा रखे और इनका पालन करनेकी पराकाष्ठा करे। इसीसे व्यक्तिकी तथा समाजकी सच्ची उन्नति होगी। राज्यशासन द्वारा ऐसा सुप्रबंध रखा जाय कि जिससे इन सिद्धान्तोंका पालन व्यक्ति तथा संघ करते जाय और उनमे किसी तरहका विघ्न न हो।

नवम सिद्धान्त— ' अन्य मार्ग नहीं है। '

९ नान्यथेतोऽस्ति।

(इतः अन्यथा नास्ति)

' इससे भिन्न उन्नतिका दूसरा मार्ग नहीं है। '

(९) पूर्वोक्त आठ सिद्धान्तोंके द्वारा जिस मानवधर्मकी घोषणा हुई,

उससे विभिन्न दूसरा कोई मार्ग मानवी उन्नतिके लिये नहीं है ऐसा मानना। यह भी मार्ग है और दूसरा भी है, सभी मार्ग वहीं पहुंचते हैं, ऐसे गोलमाल विचार मनमें रखने नहीं चाहिये। इससे श्रद्धाका बल प्राप्त नहीं होता और किसी भी मार्गपर विश्वास नहीं बैठता। इसलिये ' यही अष्टविध धर्ममार्ग मानवी उन्नतिके लिये है, इससे भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना मानवी समाजके हितके लिये और उसके संघटनके लिये अत्यंत आवश्यक है।

सब मार्ग वहीं पहुंचाते हैं ऐसा मानना भी एक भ्रम है। इस भ्रमको दूर करना चाहिये। मानवी उन्नतिका यही एक मार्ग है इससे भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना ही योग्य है। यह पुरुषार्थ प्रयत्नका मार्ग है। यहां तक नौ सिद्धान्त कहे, दसवां भी एक है वह अब देखिये—

दशम सिद्धान्त = ' सत्कर्मका प्रभाव '

१० न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

' कर्मका लेप नरको नहीं लगता। '

(१०) कर्मके तीन भेद इससे पूर्व (छठे सिद्धान्तके विवरणमें) बताये हैं। ' विकर्म, हानिकारक होनेसे करने नहीं चाहिये ' अकर्म ' व्यक्तिके अस्तित्वके लिये आवश्यक होनेसे करने ही चाहिये। इनसे व्यक्ति समाज-सेवा करनेके लिये समर्थ होती है इसलिये इनको करना आवश्यक है। सर्वजन-हितकारक जो हैं वे ही ' कर्म ' कहलाते हैं। ये अवश्य करने चाहिये। कई लोग कहते हैं कि सभी कर्मोंका लेप मनुष्यको लगता है यह सत्य नहीं है। सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे नरको कोई दोष नहीं लगता, इस दशम सिद्धान्तपर भी विश्वास रखना चाहिये।

सर्वजनहितकारी कर्म मनुष्यको अवश्य करने चाहिये। इनको त्यागना नहीं चाहिये। इनको उत्तमसे उत्तम विधिसे करना चाहिये। इनके करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता। हानिकारक विरुद्ध कर्म करनेसे मनुष्य दोषी होता है, वैयक्तिक कर्म करनेसे व्यक्तिका सुधार होता है और सर्वजनहित-कारी कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता।

यहा 'नर' को दोष नहीं लगता ऐसा कहा है। सबको दोष नही लगता ऐसा नही कहा। 'न-र' (न रमते) जो भोगोमे नहीं रमता वह 'नर' है। भोगोपर जो आसक्त नही होता, वह उसी वृत्तिसे सर्वजनहितकारी कर्म करता है, उन कर्मोसे उसको दोष नही लगता। कर्मदोषसे मुक्ति मिलनेका यह साधन है।

यहातक दस सिद्धान्त मानवधर्मके कहे। ये ही आत्मोन्नतिके सिद्धान्त हैं। इनके मननसे अर्थापत्तिसे आत्मघातके और अवनतिके मार्गोका भी पता लगता है। अत इन दोनो मार्गोकी तुलना यहा करते हैं—

दोनों मार्गोंकी तुलना

उन्नतिका मार्ग	अवनतिका मार्ग
१ ईश्वर अपने सामर्थ्यसे इस विश्वपर शासन करता है। (सामर्थ्यवान् अपने सामर्थ्यसे विश्वपर अधिकार चलाता है।)	१ ईश्वर नही है। होगा तो वह पाचवे आसमानमे होगा। वहासे वह अपने प्रतिनिधिके द्वारा इस विश्वका राज्य चलाता है।
२ इस विश्वमे समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है। समष्टि शाश्वत है और व्यक्ति नश्वर है। समष्टिके हितके लिये व्यष्टिकी सेवा करना योग्य है। और समष्टिसे व्यष्टिका सरक्षण होना योग्य है। समष्टि-व्यष्टिका सहकार होना योग्य है।	२ समष्टिकी सगठना करके व्यक्तिका स्वातत्र्य नष्ट करना, अथवा व्यक्तिका स्वातत्र्य बढाकर सघशक्तिका नाश करना। व्यक्ति और समाजका सहकार्य न होने देना।
३ समष्टि-व्यष्टिका सहविकास करनेके लिये त्यागसे भोग करना, यज्ञ करके जो अवशेष रहेगा उसका स्वय भोग करना।	३ सपूर्ण स्वार्थभोग बढाते रहना, भोगोपर मर्यादा न रखना। भोग-विलासोकी अमर्याद वृद्धि करना।

४ लोभका त्याग करना ।	४ लोभको बढाते जाना ।
५ धन समष्टिका है, प्रजापालक संस्थाका धन है, प्रजापालनके लिये धन है, व्यक्तिका धन नहीं है ऐसा मानना । व्यक्ति विश्वस्त रूपसे धन अपने पास रखे, पर उसका उपयोग समष्टिके हितके लिये करे ।	५ व्यक्तिका धन है, व्यक्ति अपने पास धन-संग्रह करता रहे । धनकी पूंजी अपने पास बढाते जाना और समष्टिके हितके लिये धनका दान न करना ।
६ इस जन्ममें श्रेष्ठतम कर्म करना । ये कर्म सर्वजनहितके लिये करते रहना।	६ स्वार्थभोग बढानेके लिये कर्म करना ।
७ सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करना, इस दीर्घायुमें शुभ कर्म करते रहना ।	७ संसारको क्षणभंगुर मानकर कर्मोंका त्याग करना ।
८ पूर्वोक्त विचार मनमें स्थिर रखना ।	८ किसी विचारपर मन स्थिर न रखना ।
९ इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना ।	९ सब मार्ग प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचाते हैं ऐसा भ्रान्त विचार मनमें रखना ।
१० श्रेष्ठ कर्मका लेप नहीं लगता ऐसा मानना ।	१० सब कर्म बंधनकारक हैं ऐसा मानना और कर्म छोडना ।

यहां दो तालिकाएं दी हैं । एकमें मानवी उन्नतिके दस सिद्धान्त दिये हैं, और उनके सामने दूसरे कोष्टकमें मानवकी अधोगति करनेवाले दस मत दिये हैं मानवी उन्नतिके इन दस सिद्धान्तोंसे मनुष्य समाजकी सच्ची उन्नति होनेके लिये, इन सिद्धान्तोंको व्यवहारमें लानेके लिये सदा कटिबद्ध रहने-वाली आध्यात्मिक राज्यशासन प्रणालीही राष्ट्रके शासन कार्यमें प्रयुक्त होनी चाहिये । अध्यात्मके सिद्धान्तोंपर जिसकी रचना हुई है ऐसी राज्य-शासन प्रणाली ही संपूर्ण राष्ट्रका तथा संपूर्ण मानवसमाजका उद्धार कर सकेगी । इसका स्वरूप संक्षेपसे यह [illegible] है—

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासनके तत्त्व

(वैयक्तिक तथा सामाजिक)

(१) समर्थ मनुष्य अथवा समर्थ समाज इस विश्वपर अपना प्रभाव स्थापन कर सकता है। यह जानकर व्यक्तिको, समाजको, जातिको अथवा राष्ट्रको प्रभावशाली बनाना हो तो उसे विश्वके साथ अविरुद्ध रहकर अपना सगठन करना चाहिये। कदाचित एक व्यक्ति विशेष प्रभावी बन भी सकता है और उसका प्रभाव विश्वपर पड भी सकता है, पर यदि समाज, जाति या राष्ट्रको प्रभावशाली करना हो तो वह कार्य राज्यशासन–व्यवस्थासे ही हो सकता है। ऐसा सुसगठित बलवान समाज विश्वपर अपना प्रभाव जमा सकता है।

(२) व्यक्ति तथा समाजका परस्पर सहकार्यसे विकास होना चाहिये। व्यक्ति अपना जीवन समाजके हित करनेके लिये देवे और समाज व्यक्तिको सुरक्षित रखे। यह राज्यशासन–व्यवस्थासे ही होनेवाला कार्य है। व्यक्ति स्वार्थी बनकर अपना विकास कर सकेगी, समाज भी अपने स्वार्थके लिये सघटित होकर अपना बल बढा सकेगा। पर व्यक्ति और समाजका सम विकास करना हो तो वह कार्य सुयोग्य राज्यशासनके प्रबधसे ही हो सकता है।

(३–४) त्यागसे भोगका और लोभका त्याग ये तत्त्व वैयक्तिक आचरणमे लाये जा सकते हैं। पर यदि ये राज्यशासनके राष्ट्रीय नियोजनके द्वारा व्यवहारमे लाये गये तो वे राष्ट्रके विकासके लिये अधिक सहायक हो सकते हैं।

(५) धन सबका सब प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका उसपर अधिकार नहीं है। 'प्रजापति' का अर्थ 'प्रजाका पालन करनेवाली सस्था' है। इसीकी नाम 'राज्यशासन करनेवाली सस्था' है। इसीको 'क' भी कहते हैं। 'क' का अर्थ 'सुख' है। यह राज्यशासन जनताको सुख देता है इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं। राष्ट्रका सब धन इस प्रजापति सस्थाका है। इस धनको अपने अधिकारमे लाकर उसके योग्य उपयोगसे सब जनताका योगक्षेम सुचारु रूपसे चलाना, सबकी उन्नति होनेके मार्ग सबके लिये खुले रखना और किसीकी उन्नतिमे रुकावट न होने

देना यह राज्यव्यवस्थाके प्रबंधसे ही होनेवाला कार्य है। कोई एक व्यक्ति यह नहीं कर सकता।

(६-७) मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करे और १०० वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करे। राष्ट्रकी आयुष्य वृद्धि करनेका कार्य तो राज्यशासन प्रबंधसे ही हो सकता है। राष्ट्रके आरोग्यकी वृद्धि करना राष्ट्रमेंसे रोगोंको हटाना, जनताकी कार्यक्षमता बढाना, उनके द्वारा श्रेष्ठतम कार्य होनेकी व्यवस्था करना, जनतामें धैर्य और बडे कार्य करनेका सामर्थ्य विकसित करना यह सब राष्ट्रशासनके सुप्रबंधसे ही हो सकता है। राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी जनताकी आयु १०० वर्षोंकी हो सकती है। एक एक व्यक्ति कितने भी नियमोंका पालन करती रहेगी तो भी यह राष्ट्र शासनके सुप्रबंधके समान कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। केवल किसीकी कल्पनासे ही मनुष्य १०० वर्ष जीवित नहीं रह सकता और कोई व्यक्तिको वैसी आयु प्राप्त हुई तो भी उसमें कुछ विशेष लाभ नहीं। यहां तो राष्ट्रकी औसत आयु १०० वर्षकी होनी चाहिये। यह कार्य राष्ट्रके प्रबंधसे ही हो सकता है।

(८-१०) ये पूर्वोक्त तत्त्व-विचार ध्यानमें धारण करने और इससे भिन्न दूसरे कोई विचार मानवोंकी उन्नति करनेवाले नहीं है ऐसा मानना चाहिये। यह ऐसी श्रद्धा बनी रहनी चाहिये। इसी तरह सर्वजनहितकारी श्रेष्ठ कर्म मनुष्यको दोष नहीं लगाते यह भी जानना चाहिये। यह तो व्यक्ति भी कर सकता है, पर राष्ट्रकी जनतामें ऐसा विचारोंका परिवर्तन करना हो तो यह कार्य राष्ट्रकी शिक्षामें ही ओजस्वी विचारोंका समावेश करनेसे ही हो सकता है। अर्थात् यह राज्यशासनके सुप्रबंधसे हो सकता है।

यहांतक बताया गया कि पूर्वोक्त दस तत्त्वोंका वैयक्तिक रीतिसे कितना पालन हो सकता है और राष्ट्रीय शासन द्वारा कितना कार्य हो सकता है। व्यक्तिसे होनेवाला कार्य अल्प और राज्यशासन द्वारा होनेवाला महान् और स्थायी है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये पूर्वोक्त दस तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त जनताके जीवनमे ढालनेके द्वारा उनका परमहित साधन करनेके लिये हैं, अत इनका समावेश राज्यशासनमे होना चाहिये। अन्यथा ये सिद्धान्त केवल कल्पना या चर्चामे ही रहेंगे, जैसे कि आजतक ये रहे हैं। आजतक सब भाष्यकारोने इनका विचार वैयक्तिक आचरणमे लानेके लिये ही किया। आजतक किसीने इनका समावेश राज्यशासनमे करके जनताका अधिकसे अधिक लाभ करनेका विचार भी नहीं किया। इसलिये ये राष्ट्रशासनके तत्त्व केवल चर्चामे ही रहे और राष्ट्रशासनमे नही आये। यह दुर्दैवकी घटना है।

आधुनिक समयमे प पू महात्मा गाधीजीने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि नियम राष्ट्रीय दृष्टीसे बर्तनेका उपक्रम किया। व राज्यशासनमे इनका समावेश करना चाहते थे पर वह बना नहीं। अतिप्राचीन समयमें श्री गणेशने अपने राज्यशासनमे इनका बडे प्रमाणमे प्रयोग किया था ऐसा उनके जीवनीसे पता लगता है। (देखो गणेश पुराण) ऐसा ही उपक्रम भगवान् श्रीकृष्णने किया था ऐसा प्रतीत होता है। इसका नाम 'भागवत राज्यशासन' है। जनताने अपने कर्म करने और राज्यशासनसे उन सबका योगक्षेम चलाना यह (योगक्षेम वहामि अहं) इनके चरित्रमे दीखता है। पर यह आगे चल न सका और इसके क्षेत्रका विस्तार न हो सका यह दुर्दैव है।

ईश्वरके जो गुण वेदमत्रोमे कहे हैं वे राष्ट्रशासकमे दीखने चाहिये, क्योंकि राष्ट्रशासक भी ईश्वरका अश ही है। और मनुष्यमे भी अल्प अशसे दीखने चाहिये क्योंकि नरका नारायण बननेवाला है। नरमे तथा नारायणमे गुणोका साम्य है। राष्ट्रशासकमे तो यह साम्य विशेष ही रहना चाहिये, क्योंकि उसका जनताके भविष्यके साथ घनिष्ट सबध है। परमेश्वर जिन गुणोसे विश्वका शासन कर रहा है, उन गुणोसे ही राष्ट्रशासक राष्ट्रपुरुष अपनी प्रजाका शासन करे यह अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासनका सूत्र है। इससे ईश्वरके वर्णनके शब्द और वाक्य राज्यशासकका भी वर्णन करते हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

+

इस ईशोपनिषद्में (ईश) शासक, (यम) नियामक, संरक्षक, (प्राजापत्य) प्रजापालक, प्रजापति ये शब्द जैसे ईश्वरके वैसे ही राज्यशासकके भी वाचक हैं। ईश्वरके गुण इसी कारण राज्यशासकके गुण करके विचार करने योग्य हैं। इस तरह अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त बहुत अशसे राज्यशासनमें कैसे परिवर्तित हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है।

अब ऊपर जो दशविध उन्नतिका मार्ग कहा, उससे न आनेवाले आत्मघातकी लोगोंकी कैसी दुर्दशा होती है यह देखिये। यह अवनतिका दशविध आत्मघातका मार्ग पूर्व स्थानमें कोष्टकमें दिया है—

ग्यारहवाँ सिद्धान्त = ' आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति '

११ असुर्या नाम ते लोका
अन्धेन तमसाऽऽवृता।
तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति
ये के चात्महनोजनाः॥ ३॥

' जो कोई आत्मघातकी लोग होते हैं वे अन्धकारसे व्याप्त आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं अर्थात् वे उनमें जन्म लेते हैं। '

(११) आत्मघातके मार्गसे जानेवाले लोग आसुरी संपत्तिके गुण्ड-लोगोंमें गिने जाते है। ईश्वरी योजनासे मरनेके बाद भी वे आसुरी गुण्ड-लोगोंमें जन्म लेते हैं।

राज्यशासनके प्रबंधसे ऐसे दुष्ट लोगोंकी गणना गुण्डोंमें होने योग्य है। इस तरह इनकी गणना गुण्डोंमें होनेसे संपूर्ण जनताको पता लगेगा कि ये गुण्ड हैं और इनसे सावध रहना चाहिये। गुण्डोंमें इनकी गणना होनेसे अन्य सभ्योंको नागरिकत्वके जो अधिकार होते हैं वे इनको नहीं रहेंगे, इससे इनको अपना सुधार करनेका उत्साह उत्पन्न होगा और वे अपना सुधार करके नागरिकत्वके सब अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

जिस तरह ईश्वरी नियमसे आसुरी लोगोमे जन्मे जीव भी अपना सुधार करके दैवी सपत्तिवाले पुण्य कर्मोंमें जन्म लेने योग्य होते हैं, उसी तरह राज्य प्रबंधमें भी समझना योग्य है। ईश्वरी नियमानुसार जन्मान्तरमे निकृष्टता और उत्कृष्टता होती है और राज्य प्रबंधमे इसी जन्ममे गिरावट या सुधार होता है। राज्य व्यवस्थामे सुधार करनेवालोको योग्य अवसर मिलना ही चाहिये जिसे उनको सुधार करनेका उत्तेजन मिले और वे सुधरे। इस विषयके योग्य नियम राज्यशासनका प्रबंध करनेवाले करे और तदनुसार राज्यशासन करे।

यहा आत्मघातकी गुण्डोकी अवनति कैसी होती है यह बताया, इससे उन्नतिशील सज्जनोकी उन्नति पूर्वोक्त धर्ममार्गसे कैसी होती है इसका ज्ञान होगा।

द्वितीय प्रकरण

पूर्व प्रकरणमे सर्व साधारण राज्यशासनकी रूपरेखा बतायी, अब इसकी विशेषताका वर्णन करते हैं —

पुनः ईशगुणोंका वर्णन

बारहवां सिद्धान्त = 'अ–कम्पनशीलत्व'

१२ अनेजत्

(वह) कापनेवाला नही है।'

(१२) ईश, ईश्वर, प्रभु, प्रजापति, यम, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा ये सब शब्द एक आदि तत्त्वके वाचक हैं। इसीका वर्णन पहिले मत्रमे 'ईश' शब्दद्वारा हुआ है। यह ईश्वर सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है इसलिये सब पर प्रभुत्व करता है। उससे कोई अधिक सामर्थ्यवान् नहीं है अत वह किसीसे भयभीत नहीं होता, और किसीको देखकर कापता भी नहीं। कापना तो तब होगा जब उससे कोई अधिक बलवान् व्यक्ति उसके सामने आजाय और उसके सामने इसका कुछ भी न चले। वैसा तो यहा नहीं है इसलिये यह किसीके भयसे कभी कापता नहीं।

जो सर्वत्र नही होगा वह हिल सकता है। जो सब जगह होगा वह नहीं काप सकता । जो हिल नहीं सकता वह कांपेगा कैसे ?

इस मन्त्रमे तथा इसके आगेके मन्त्रमे ईशवाचक शब्द नपुंसक लिंगमे हैं। प्रथम मन्त्रका ' ईश ' पद पुल्लिंगी है। इस सूक्तमे एक ही आदि तत्त्वका वर्णन करनेवाले पद पुल्लिंग और नपुंसक लिंगमें हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनेक लिंगोके पदोंसे इस आदि तत्त्वका वर्णन होता है। अतः इस लिंग भेदको देखकर घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

राज्यके अधिकारी तथा शासन यन्त्र ऐसा प्रबल हो कि जो शत्रुको देखकर न कांप उठे। अन्दरके गुण्डोंसे भी न डरे। सब राज्यके कोने कोनेमें उसका शासन अच्छी तरह चलता रहे और किसी तरह किसी जगह निर्बल न हो, सर्वत्र प्रबल रहे। किसीसे न डरे, किसीके सामने न कांप उठे, किसीके सामने न झुके और सबसे अधिक प्रभावशाली रहे। शासक अधिकारी किसीके डरसे अपने कर्तव्यमे कसूर न करें। किसीसे न डरते हुए अपना कर्तव्य निर्भयतासे करते रहें।

तेरहवां सिद्धान्त = ' अद्वितीयत्व '

सुयोग्य अधिकारी मिलेंगे और राज्यशासन भी उत्तमसे उत्तम होगा। वे अद्वितीय अधिकारी होंगे तो ही वे अपना कर्तव्य निर्भय होकर करेंगे और ऐसे अद्वितीय पुरुषोंद्वारा चलाया शासन सर्वांग सुन्दर होगा।

चौदहवाँ सिद्धान्त = 'प्रगतिशीलत्व'

१४ मनसः जवीयः

'(वह) मनसे भी अधिक वेगवान् है।'

(१४) वह ब्रह्म मनसे अधिक वेगवान् है। जहां मन जाता है वहा वह ब्रह्म उससे पहिले ही पहुंचा रहता है।

राज्यशासन ऐसा चाहिये कि जहा जनताके मनकी पहुच होती है, उससे, आगेका भी प्रबंध वहा हो, उसमें न्यूनता न रहे। जनता अपने हितकी बातें जहातक सोचती रहेगी, उससे भी अधिक दूरतकका विचार और प्रबध राज्यशासन द्वारा होता रहना चाहिये। राज्यमें गुण्ड आदि दुष्टोंकी पहुच जहातक होगी वहासे भी अधिक पहुच राज्यशासनके प्रबधकी होनी चाहिये। जहा वे गुण्ड पहुचेंगे वहा भी शासनका प्रबध ऐसा परिपूर्ण होना चाहिये कि वहा भी उनका कुछ भी चल न सके।

पन्द्रहवाँ सिद्धान्त = 'अनुल्लंघनीयत्व'

१५ नैनद्देवा आप्नुवन्

'देव (इंद्रियाँ) इस (ब्रह्म) को प्राप्त नही कर सकती।'

(१५) 'देव' शब्दका अर्थ शरीरमें 'इंद्रियाँ' है, राष्ट्रमें 'शासनाधिकारी' है और विश्वमें 'सूर्यादि देवगण' है। शरीरमें इंद्रिया आत्माका उल्लघन नही कर सकती, सूर्यादि देवगण परमात्माका उल्लघन नही कर सकते, इसी तरह राज्यशासनमें भी ऐसा शासन प्रबध चाहिये कि कोई अधिकारी या दूसरा कोई उसका उल्लघन कर न सके।

राज्यशासनका भी ऐसा उत्तम और पूर्ण प्रबध चाहिये कि जिसका उल्लंघन कोई कर न सके। किसीमें उसके उल्लघन करनेका साहस न हो। राष्ट्रके सब

व्यवहार निष्प्रतिबन्ध उत्तम रीतिसे चलते रहे, पर कभी ऐसा न हो कि शासक केंद्रपर भी कोई आक्रमण कर सके । गुण्डोंका आक्रमण, रिश्वतखोरी, भीति बताकर गुण्डोंका दबाव और सर्वस्वापहार, अथवा शासन केंद्रका भयसे परिवर्तन न हो सके । शासन केंद्र सदा जाग्रत प्रभावी तथा कार्यक्षम रहे । गुण्डोंका आक्रमण होनेके पूर्व ही वहां सुरक्षाका प्रबंध उत्तमसे उत्तम रहे ।

सोलहवां सिद्धान्त = ' प्राचीन परंपरापर आश्रित '

१६ पूर्वम्

' (वह ब्रह्म सबसे) पूर्व है, सबके पूर्व विद्यमान है । '

(१६) ' पूर्व ' का अर्थ ' प्राचीन ' पूर्व समयसे उपस्थित, शाश्वत, सदा रहनेवाला और पूर्ण । ' ब्रह्म सबसे प्राचीन है, पूर्व समयसे है, सर्वत्र उपस्थित है, शाश्वत है, सदा रहनेवाला है और परिपूर्ण है ।

राज्यशासन भी सबसे परिपूर्ण, प्रथमसे उत्तम, पूर्व समयसे एक जैसा चला आया, शाश्वत टिकनेवाला, बारबार न बदलनेवाला, चञ्चलतासे रहित हो । सतत समान रूपसे चलनेवाला हो । किसी एककी इच्छासे बदलबदल उसमें न हो । समान रूपसे शासन चलता रहे । प्राचीन परंपरा प्राचीन सभ्यतापर आश्रित हो ।

सत्रहवां सिद्धान्त = स्फूर्तियुक्त ' ज्ञान दान '

१७ अर्शत्

(वह ब्रह्म) गतिमान् और ज्ञानपूर्ण है ।

(१७) ' अर्षत् या अर्शत् ' का अर्थ ' गतिमान्, चालक, प्रेरक, स्फूर्ति देनेवाला, ज्ञानवान् ' है । ब्रह्म संपूर्ण विश्वको प्रेरणा, स्फूर्ति और चालना देता है । सबकी प्रगति करता है । सबको ज्ञान देता है उन्नति करनेके लिये वही प्रेरणा देता है उत्साह उत्पन्न करता है ।

राज्यशासन भी ऐसा होना चाहिये कि जिससे जनताके सब शुभ व्यवहारोंको उत्तेजना मिले, स्फूर्ति मिले, सञ्चालना होती रहे, प्रेरणा मिलती रहे

और किसी तरह निरुत्साह न हो। सर्वत्र ज्ञानका प्रचार हो और सब शुभ कर्मकर्ताओंका उत्साह बढे। राष्ट्रमें उत्साहका वायुमण्डल बढे और निराशाका नाम भी न रहे।

अठारहवां सिद्धान्त 'अन्योंका अनाक्रमण'

१८ तद् धावतोऽन्यानत्येति।

'वह (ब्रह्म) *अन्य दौडनेवालोंका उल्लंघन करके उनसे परे पहुंचता है।'*

(१८) अन्य पदार्थ कितने भी दौडनेवाले हुए, तो भी सबसे प्रथम उनसे परे ब्रह्म अधिक गतिमान् होनेसे पहुंचा रहता है। कोई दूसरा पदार्थ उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। 'अन्य' का अर्थ 'दूसरा' परकीय, परदेशीय, विदेशीय, शत्रु, दुष्ट, जो सदा दूसरा ही रहता है।

राज्यशासन व्यवस्था ऐसी उत्तम और परिपूर्ण होनी चाहिए कि कोई (अन्य) शत्रु, दुष्ट, अथवा परकीय उसका कदापि उल्लंघन न कर सके। जो राष्ट्रमें 'अन्य, दूसरे, परकीय, विजातीय, विदेशीय' के रूपमें रहते हैं आते हैं कुटिल रचना करना चाहते हैं, उनके दौडनेकी जितनी गति हो, उससे राज्यशासकोंकी *गति अधिक हो, अर्थात् जहां वे पहुंचनेका यत्न करें वहां राज्यशासक पहिले ही पहुंचे हों। जहां वे जाय वहां ये पहिले ही* उपस्थित रहें, जितना परकीयोंका वेग हो, उससे शासकोंका वेग अधिक हो जिससे वे शासकोंका अतिक्रमण न कर सकें। उनका उल्लंघन शासक करें पर वे अन्य-परकीय लोग-शासकोंका उल्लंघन न कर सकें। राज्य शासकोंका शासन परकीय आक्रमणोंसे अधिक प्रभावी हो।

राष्ट्रमें कोई (अन्य) परकीय करके न रहे। जो रहें वे राष्ट्रके अंग होकर रहें। और जो परकीय करके रहना चाहें उनकी गति शासकोंका उल्लंघन करने योग्य बडी और अधिक प्रभावी विशाल न हो। सदा शासकोंके अधीन होकर वे परकीय रहें, शासकोंके सिरपर चढकर न बैठें।

उन्नीसवां सिद्धान्त = ' सुप्रतिष्ठित स्थैर्य '

१९ तिष्ठत्

' (वह ब्रह्म) स्थिर है । चञ्चल नहीं है । '

(१९) ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है इसलिये हिल नहीं सकता, अतएव वह सुस्थिर है। इस स्थिर ब्रह्मका आधार संपूर्ण विश्वको है। इसके आधारसे विश्व रह रहा है। ब्रह्म स्वयं स्थैर्यसे सुप्रतिष्ठित है।

राज्यशासन भी स्थिररूपसे सबको आधार देनेवाला होना चाहिये। आज एक, कल दूसरा, परसों तीसरा ऐसी चपलता उनमें नहीं होनी चाहिये। राज्यशासक एक स्थिर नीतिसे चलनेवाले होने चाहिये। राज्यशासनकी स्थिर नीति रहेगी, तो जनताके विश्वासके लिये वह पात्र होगा। राज्यशासन चञ्चलतादि दोषोंसे विरहित और स्थैर्यसे सुप्रतिष्ठित होना चाहिये।

बीसवां सिद्धान्त = ' कर्मोंकी धारणा '

२० तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ८ ॥

' उस (ब्रह्म) में वायु जलोंका धारण करता है। '

(२०) ' आप ' का अर्थ ' जल तथा कर्म ' है, ' मातरिश्वा ' का अर्थ वायु, प्राण और गर्भस्थ जीव (मातरि-श्वा) है। आकाशमें वायु मेघरूपी जलोंको धारण करता है, गर्भस्थ जीव पूर्वजन्मके कर्मोंको धारण करता है यह सब उस ब्रह्मके आश्रयसे ही हो रहा है। ब्रह्मके आधारसे जो शक्ति वायुमें रहती है, उससे वायु जलोंको धारण करनेमें समर्थ होता है। इसी तरह इसी शक्तिके नियोजनसे गर्भस्थ जीवके पूर्वजन्मकृत कर्म उसके साथ रहकर द्वितीय जन्ममें उसे मिलते हैं तथा उसके फल भी उसे मिलते हैं। कर्म विनष्ट नहीं होते।

इसी तरह राज्यशासनमें भी सब जनताके कर्मोंकी यथायोग्य धारणा होनी चाहिये और उनके फल उन कर्मोंके कर्ताको मिलने चाहिये। कुशल कर्ताको योग्य कर्म, योग्य कर्म योग्यरीतिसे करनेपर उसके सुयोग्य फल उसे

मिलने चाहिये। कर्ताको कर्म, कर्म करनेपर सुयोग्य धन कर्ताको मिलना चाहिये। ऐसा न हो कि कर्मचारी कर्म तो करे, पर उसका फल दूसरा ही खा जाय और कर्ता वंचित ही रहे। कर्ताका कर्म योग्यरीतिसे होता रहे, कर्म होनेपर उसी समय अथवा समयान्तरसे भी क्यों न हो, उस कर्ताको उसके कर्मके अनुरूप फल अवश्य मिलना चाहिये। कर्मकर्ताको कर्मफल प्राप्तिकी निश्चिति होनी चाहिये। किया कर्म कभी व्यर्थ जाना नहीं चाहिये।

इक्कीसवाँ सिद्धान्त = 'स्थिर रहकर दूसरोंका संचालन'

२१ तदेजति, तन्नैजति।

'वह (ब्रह्म सबको) चलाता है, (पर) वह (ब्रह्म) स्वयं नहीं हिलता।'

(२१) वह ब्रह्म सब विश्वका संचालन कर रहा है, पर वह स्वयं नहीं विचलित होता। स्वयं सुस्थिर रहनेवाला सब विश्वको संचालित करता है।

इसी तरह राज्यशासन भी राज्यके सब कार्यकर्ताओंको योग्य प्रेरणा देता रहे, पर स्वयं अपनी पद्धतिपर सुस्थिर रहे। राज्ययंत्र चञ्चल न रहे, पर सब राष्ट्रको स्फूर्ति देता रहे, सब राष्ट्रका उत्साह बढावे। इसी तरह (तत् एजति) वह शत्रुको कम्पायमान करे पर स्वयं न कंपित होवे, शत्रुको डरावे और भगा देवे, पर स्वयं अपने स्थानसे न हिले।

'एजति' का अर्थ 'कंपित होना है, कांपता है, कंपाता है' ऐसा है। सबको कंपावे, पर स्वयं न कांपे।

बाईसवाँ सिद्धान्त = 'दूर और पास समान'

२२ तद् दूरे तद्वु अन्तिके,

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

वह (ब्रह्म) दूर है और वह समीप भी है। वह इस सबके अन्दर है और वह इस सबके बाहर भी है।

(२२) वह ब्रह्म जैसा दूर है वैसा ही समीप भी है दूर और समीप एक जैसा है। वह अन्दर और बाहर एक जैसा है।

राज्यशासन भी जैसा एक स्थानपर वैसा ही दूसरे स्थानपर रहे । केंद्रमें जैसा हो वैसा ही सुदूरके प्रदेशमें भी हो। अधिकारीके पास न्याय मिले और अधिकारी दूर होनेपर अन्धकार हो ऐसा कमी न हो। कोनेसे दूसरे कोनेतक एक जैसा राज्यशासनका प्रबंध हो । मध्य केंद्रमें जैसा सुप्रबंध हो वैसा ही बाह्य प्रदेशमें भी उत्तम प्रबंध रहे। अन्दर और बाहर समान रूपसे उत्तम प्रबंध हो । सर्वत्र समानतया जागरूक तथा अनुशासन युक्त अच्छा प्रबंध रहे ।

तेईसवां सिद्धान्त २३ ' परस्पराप्रतिबिंबत्व '

२३ यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सति ॥ ६ ॥

' जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह इस ज्ञानके कारण किसीकी निंदा नहीं करता । '

(२३) ब्रह्म या आत्मामें सब भूत हैं और सब भूतोंमें ब्रह्म या आत्मा है। ऐसा जो देखता है वह भूतोंको और आत्माको सर्वत्र देखनेके कारण, जहां जिसको वह देखता है वहां उसमें आत्मा और भूत दिखाई देते हैं, इस कारण, प्रत्येक स्थानमें भूतों और आत्माका उसको दर्शन होनेके कारण, वह किसीकी भी निंदा नहीं करता, क्योंकि अनिंदनीय आत्मा सर्वत्र है और कोई पदार्थ उससे रहित नहीं है ऐसा देखनेके कारण वह किसी पदार्थकी निंदा नहीं कर सकता ।

राज्यशासनमें भी सब प्रजाजनोंमें राज्यशासनकी प्रतिष्ठा है, कोई मनुष्य अपने राज्यशासनकी अप्रतिष्ठा नहीं करता और राज्यशासन भी किसी व्यक्तिको रंग, रूप, जाति, प्रान्त, वर्ण, देशभेदके कारण दूर नहीं रखता, अर्थात् राज्य प्रबंध सबको समान रूपसे आदरणीय मानता है और सब लोग वे किसी दर्जेमें हों, पर व प्रबंके सब राज्यशासनका अनुशासन मान्य करते हैं, आदरसे शासनप्रबंधको देखते हैं वहां कौन किसको निंदा करे और क्या निंदा करे ? राज्यशासन और जनतामें सामंजस्य होनेपर निंदा करनेका कारण ही नहीं रहता ।

जिस समय राज्यशासनका और प्रजाजनोंका हित सबंध परस्पर विरुद्ध हो जाता है और उनमे संघर्ष उत्पन्न होता है, तब प्रजापक्ष राज्यशासक पक्षकी निंदा करता है । अथवा उदासीन पक्ष जिसमे दोष देखता है उसकी निंदा करता है पर जबतक प्रजा और शासन तंत्र इन दोनोंमे सामंजस्य हो और ये दोनो परस्परके पोषक सहायक तथा हितचिंतक हो, तब निंदा करनेका कारण ही नहीं उत्पन्न होता ।

जनता और शासन संस्था ये दोनो अन्योन्य ममत हो, परस्पर सहाय्यक हो, और परस्पर सहकार्य करनेवाले हो, तो ही सच्चा सुख होनेकी संभावना है ।

चोवीसवां सिद्धान्त = ' एकात्म प्रत्यय '

२४ यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनु पश्यतः ॥ ७ ॥

' जिस अवस्थामे सब भूत ज्ञानीके लिये आत्मा (ईश) ही हुए उस अवस्थामे उस एकत्वको अनुभवसे देखनेवालेको शोक भी कैसे होगा और मोह भी कैसे हो सकेगा ? '

(२४) यह सब विश्व आत्माका ही विश्वरूप है, ऐसा जिसको एकत्वका दर्शन हुआ उसे किसी भी कारण शोक वा मोह नहीं हो सकते । क्योंकि जिसको वह देखता है उसमे वह आत्माका ही दर्शन करता है, विभिन्न पदार्थोंमे एक आत्माका दर्शन वह करता है । इस तरह जिसे एकात्मताका अनुभव हुआ उसको किसी भी अवस्थामें मोह वा शोक नही होते । मोह तो तब होगा जिस समय आत्मा और अनात्माका विचार करना पडे, शोक भी तब हो कि जिस समय आत्माका दर्शन न हो । जब ऐसा नहीं होता और सदा सर्वदा सर्वत्र आत्माका ही दर्शन होता रहेगा, तब शोक भी नहीं होगा और मोह भी नही होगा ।

राज्यशासनमे भी जब प्रजा और राज्यशासनमे द्विधाभाव न होगा, प्रजामे संपूर्ण राज्यशासन सुस्थिर है ऐसा अनुभव होगा और राज्यशासनसे प्रजा सुरक्षित है, ऐसा अनुभव होगा तब प्रजा और शासनतंत्रमे कोई

भिन्नता नहीं रहेगी, इसी अवस्थामें जो एकात्मताका दर्शन होगा उस समय किसीको शोक या मोह नहीं होगे ।

जब राज्यशासन प्रजाके द्वारा, प्रजाके हितके लिये, प्रजाके प्रतिनिधियोंके द्वारा चलाया जायगा, तब वह राज्यतंत्र प्रजामें ही सुरक्षित रहेगा, उस समय प्रजा और राज्ययंत्र एक ही होगा । यही राजकीय एकात्मताकी प्रतीति है । जहां पूर्णरूपसे एकात्मता होगी, अर्थात् जहां राज्ययंत्र और प्रजा एक रूपमें रहेगी वहां किसीको भी मोह नहीं होगा और शोक भी नहीं होगा ।

जब प्रजा और राज्ययंत्रमें संघर्ष होगा, विद्रोह होगा, परस्पर हारने जितनेकी स्पर्धा होगी, तब किसीको अपने कर्तव्य अकर्तव्यके विषयमें मोह होगा और अपकृत्य होनेके कारण शोक करनेका भी प्रसंग होगा । पर जहां प्रजा और राज्ययंत्र एकरूप होंगे, प्रजा ही राज्यशासन निर्माण करनेवाली होगी और राज्यशासकों द्वारा जो होगा वह प्रजाने ही किया ऐसा होगा जब ऐसी एकात्मताकी अवस्थामें उस राज्यशासनमें किसीको भी मोह या शोक कभी नहीं होगा ।

तृतीय प्रकरण

पुनः आत्माके गुणोंका वर्णन करते हैं —

पच्चीसवां सिद्धान्त = ' शारीरिक दोषोंसे विघ्न न हों '

२५ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्

' वह आत्मा बलपूर्वक शरीर-व्रण-स्नायुरहित रहता हुआ सर्वत्र व्यापता है । '

(२५) आत्मा (शुक्र) बलयुक्त होकर तथा देह-व्रण-स्नायुके सबंधसे विरहित होकर सर्वत्र व्यापता है सर्वत्र फैला है, सबको घेरता है, सबपर शासन करता है सबपर अपना अधिकार चलाता है ।

राज्यशासन चलानेवाले राजपुरुष भी बलिष्ठ या सामर्थ्यवान् होकर अपना राज्यशासनका कर्तव्य करें, तथा शरीरके तथा स्नायुओंके व्रणादि दोषों

और रोगोंके कारण अपने कर्तव्य करनेमें विघ्न न आने दें। राज्यके अधिकारी राजपुरुष शरीरसे सुदृढ, स्नायुमें निर्दोष तथा व्रणादि दोषोंसे विरहित रहें, अपना शरीर स्वास्थ्य उत्तम रखें, और शरीरदोषोंके कारण कोई अधिकारी अपने कर्तव्यमें शिथिल, असमर्थ अथवा हतबल न हो। किसी भी शारीरिक व्यथाके कारण राज्यशासनका कार्य बंद न रहे। सब अधिकारी अपना कर्तव्य करनेमें सदा समर्थ रहें। राज्यशासनका प्रबंध ऐसे सामर्थ्य संपन्न अधिकारियोंके द्वारा सर्व राष्ट्रभरमें व्यापक हो, सबपर शासन समानरूपसे चलावे और सबपर उसका उचित प्रभाव प्रस्थापित होता रहे।

छब्बीसवाँ सिद्धान्त = ' पवित्रता रहे । '

२६ शुद्धं अपापविद्धम्

' वह शुद्ध और निष्पाप रीतिसे (सर्वत्र व्यापता है।) । '

(२६) *आत्मा शुद्ध तथा निष्पाप रूपसे सर्व विश्वमें व्यापता है वह किसी तरह पापसे अथवा अपवित्रतासे कलंकित नहीं होता।*

राज्यशासन तथा राज्यशासन करनेवाले राजपुरुष भी किसी तरह पापसे तथा अशुद्ध व्यवहारसे अपना संबंध न रखें। वे परिशुद्ध व्यवहार करें और पापसे सदा दूर रहें। कालाबाजार, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, नीचाचार, व्यभिचार, दुराचार आदिसे सदा दूर रहें। और राज्यशासन परिशुद्ध रखें। कदापि किसी तरहका कलंक राज्यशासनपर अथवा राजपुरुषोंपर न आवे, ऐसा व्यवहार दक्षतापूर्वक रखें। पापसे किसी समय धनादि प्राप्त होने भी लगा, तो उस व्यवहारसे सदा दूर रहना अच्छा है, पर पाप मार्गसे धन कमाना बहुत बुरा है। राज्यशासन जितना पवित्र, शुद्ध और निष्पाप रहे उतनी उसकी शाश्वति अधिक होगी, और यदि राज्यशासन कलंकित हुआ, तो उसके शीघ्रातिशीघ्र विनष्ट होनेमें संदेह ही नहीं है। अतः राज्यशासनमें शुद्धता, पवित्रता, निर्दोषता और निष्पापता रखनेका यत्न सदा ही करना उचित है।

सत्ताईसवाँ सिद्धान्त = ' ज्ञानी और कर्तृत्ववान् राजपुरुष '

२७ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।

' (ईश्वर) ज्ञानी, संयमी, विजयी और स्वयंभू है । '

(२७) ईश्वर कवि, ज्ञानी, दूरदर्शी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, दूरदर्शी, मनके ऊपर प्रभुत्व करनेवाला, मनका स्वामी, सबपर अपना प्रभाव डालनेवाला, विजयी, शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं सिद्ध, अपनी शक्तिसे रहनेवाला दूसरोंपर अवलंबन न रखनेवाला, प्रत्युत दूसरोंको अपना आधार देनेवाला है।

राज्यशासक राज्यशासनके अधिकारी, राजपुरुष भी (कवि) ज्ञानी, दूरदर्शी अतीन्द्रियदर्शी, (मनीषी) मननशील, मनपर संयम करनेवाले, मन संयमी इन्द्रियदमन करनेवाले, मनको अपने अधीन करनेवाले, (परिभू) अपने शत्रुका पराभव करनेवाले, विजयी प्रभावी, सबपर अपना प्रभुत्व रखनेवाले, चारों ओर अपने प्रभावका फैलाव करनेवाले, (स्वयंभू)स्वयं अपनी शक्तिसे रहनेवाले, अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाले दूसरेपर अपना भार न रहनेवाले, स्वयंप्रभावी, स्वयंसिद्ध, समयपर अपनी योग्यता सिद्ध करनेवाले राजपुरुष उत्तम राज्यशासन कर सकेंगे। प्रत्येक राज्याधिकारीकी नियुक्ति करनेके समय उसमें ये गुण हैं या नहीं इसकी परीक्षा करनी होगी । राजसभाके सदस्योंमें भी ये गुण चाहिये । राजसभाके सभासदोंको चुननेवाले भी ऐसी परीक्षा करनेवाले होंगे तो ही वे उत्तम सदस्योंकी नियुक्ति कर सकेंगे । ऐसे चुनाव करनेवाले न हुए तो क्या होगा इसका विचार पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं। *चुननेवाले, जिनका चुनाव करना है सदस्य, अधिकारी इन सबकी* विशेष योग्यता होनी चाहिये। जिस स्थानपर उन्होंने बैठना है, जिस कार्यको करना है उसको उत्तमसे उत्तम निभाने योग्य उत्तम गुण उनमें चाहिये, तब राज्यशासन उत्तम होगा अन्यथा भ्रष्टाचार होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

कवि मनःसंयमी, प्रभावी व स्वयंसिद्ध ये चार पद सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं । ऐसे अधिकारी होने चाहिये ऐसे कार्यकर्ता होने चाहिये और ऐसे राजसभाके सभासद् होने चाहिये ।

अठ्ठाइसवाँ सिद्धान्त– 'यथायोग्य स्थायी अर्थव्यवस्था'

२८ यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

(यह ईश्वर) यथायोग्य रीतिसे अर्थोंकी व्यवस्थाको शाश्वत कालसे करता आया है।

(२८) इस विश्वमें सब अर्थोंकी व्यवस्थाको परमेश्वर शाश्वत समयसे करता आया है। उसकी अर्थव्यवस्थामें कोई दोष नहीं होता। उसकी अर्थव्यवस्था पूर्णतासे निर्दोष और स्वयं पूर्ण रहती है। शाश्वत कालसे वह अर्थव्यवस्था जैसीकी वैसी रही है और सबको सुख दे रही है।

राज्यशासन व्यवस्थामें भी अर्थव्यवस्था उत्तम रीतिसे रखनी चाहिये और जितनी वह शाश्वत टिकनेवाली होगी उतनी वह अधिक सुखदायी होगी। अर्थव्यवस्थापर सब जनताके सुख अवलंबित हैं। अर्थव्यवस्था बिगड गयी तो जनताके दुःखोंकी सीमा नहीं रहेगी। राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था विस्तृत नींवपर रखनी चाहिये और ऐसा नियोजन करना चाहिये कि जिससे वह बहुत देरतक चल सके। अर्थका मूल्य न्यूनाधिक न हो वह स्थायी रहे जिससे जनताके सब व्यवहार उत्तमरीतिसे चलते जायें और उनमें किसी तरह विघ्न न हो। राष्ट्रकी अर्थव्यवस्थामें पापसे दोष न हो, मलिनता न हो परिशुद्धता रहे ऐसी उत्तम वह अर्थव्यवस्था हो।

राष्ट्रका अर्थव्यवस्थापर राज्यशासनकी स्थिरता अवलंबित होती है। अतः राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था ठीक तरह रखनी चाहिये।

'अर्थमूलं हि राज्यं' अर्थके आधारसे राज्य रहता है। और अर्थसेही राज्य बढता है। इसलिये राज्यशासकोंको उचित है कि वे अपने राष्ट्रमें अर्थव्यवस्था उत्तम रखें जिससे जनताको शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो।

चतुर्थ प्रकरण

विद्याका क्षेत्र (शिक्षा विभाग)

उन्तीसवां सिद्धान्त = ' आत्मज्ञान और प्रकृति विज्ञानका समन्वय । '

२९ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
तसो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

' जो प्रकृति विज्ञानकी ही केवल उपासना करते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं, पर जो केवल आत्मज्ञानमें ही रमते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें पहुंचते हैं। *आत्मज्ञानका फल भिन्न है और प्रकृतिविज्ञानका फल भिन्न है* ऐसा हमने उनसे सुना है कि जो उपदेश करते हैं। आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान इन दोनों ज्ञानोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानते हैं वे प्रकृति-विज्ञानसे दुःखोंको दूर करके आत्मज्ञानसे अमृत प्राप्त कर सकते हैं । '

(२९) ' विद्या ' का अर्थ ' आत्माकी विद्या ' और ' अ-विद्या ' का अर्थ ' *अनात्मा अर्थात् प्रकृतिकी विद्या* । ' आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या अथवा परमात्मज्ञानसे आत्मिक शांति मिलती है और भूतविद्या, प्रकृतिविज्ञान अथवा विज्ञानसे ऐहिक सुख साधन विपुलतासे निर्माण किये जा सकते हैं अत ऐहिक सुखोंकी वृद्धि भूतविद्यासे होती है । इसलिये प्रकृति विज्ञान भी *आवश्यक है और आत्मज्ञान भी आवश्यक है* क्योंकि मनुष्यको ऐहिक सुख भी चाहिये और आत्मिक शान्ति भी चाहिये । इसलिये प्रकृति विज्ञान और आत्मज्ञान इन दोनोंका समावेश राष्ट्रीय शिक्षामें होना चाहिये ।

जो राष्ट्र अथवा जो समाज केवल प्राकृतिक विज्ञानके पीछे पडते हैं वे ऐहिक सुख भोग बढाते हैं। पर उनमे ईर्ष्याद्वेष बढनेके कारण वे लडाई झगडोमे पडते और दुख भोगते हैं। इसी तरह जो अध्यात्मज्ञानके ही केवल पीछे पडते हैं वे कदाचित् आत्मिक शान्ति पाते होंगे, पर उनके पास उपजीविकाके आवश्यक साधन भी न होनेके कारण ऐहिक सुख साधनोंसे वंचित रहते हैं और बडे दुख भोगते रहते हैं इस तरह केवल आत्मज्ञान और केवल भूतविज्ञानके पीछे पडनेवालोको दुर्गति ही होनी है। अत ज्ञान और विज्ञानका समन्वय शिक्षामे होना आवश्यक है।

अत राज्यप्रबंध करनेवालोको उचित है कि वे अपने राष्ट्रमे प्रकृति-विज्ञान पढायें और साथ साथ आत्मज्ञान भी पढावे। इस तरह दोनो ज्ञान विज्ञानोका पढाईमें समन्वय होनेसे जनता दोनोंसे लाभ उठावेगी और निःसंदेह अधिक सुखी होगी।

कर्मक्षेत्र

तीसवाँ सिद्धान्त – 'समाज और व्यक्तिका सह विकास'

३० अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः॥ १२॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते॥ १४॥

'जो केवल व्यक्तिवादकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमे जाते हैं, पर जो केवल समाजवादमे ही रमते हैं वे तो उससे भी घने अन्धकारमे जाते हैं। व्यक्तिवादका फल भिन्न है और समाजवादका फल भिन्न है ऐसा हम उनसे सुनते आये हैं कि जो उपदेश करते हैं॥ व्यक्तिवाद और समाजवाद इन

+

दोनोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानते हैं वे व्यक्तिवादसे व्यक्तिके दुःख दूर करते हैं और समाजवादसे (संघटित होकर) अमरत्व प्राप्त करते हैं।।'

(३०) '*असंभूति, असंभव, विनाश*' ये पद '*व्यक्ति स्वातंत्र्य-वाद*' के बोधक हैं और '*संभूति संभव*' ये पद '*समाजवाद*' के बोधक है।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समाजवाद ये दो पक्ष इस जगत्में प्रचलित हैं। व्यक्ति स्वातंत्र्य बढ गये तो समाजकी संघटना कम होती है और समाजवाद बढ गया तो व्यक्तिके लिये कुछ भी स्वातन्त्र्य नहीं रहता। इस तरह इनमें कुछ गुण और कुछ दोष है। जो व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्रता देना चाहते हैं वे व्यक्तिकी उन्नति करते हैं, पर वे समाजको सुसंघटित और बलवान् नहीं बना सकते। यह व्यक्तिके स्वातंत्र्यवादका दुष्परिणाम है। इसी तरह जो समाजवादी है वे व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको कम करते जाते हैं, इस कारण व्यक्ति दब जाता है और अवनत होता है व्यक्ति दब जानेसे उसका परिणाम अन्तमें समाजमें दास भाव बढनेमें होता है। इस तरह दोनोंमें कुछ गुण और कुछ दोष होते हैं। अतः जो व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद और समाज-संघटनावाद इन दोनोंका समन्वय करते हैं वे व्यक्ति स्वातंत्र्यसे होनेवाले लाभ प्राप्त करते हैं और समाजको सुसंघटित करके बलवान् भी बनाते हैं और समाजके साथ अमर हो जाते हैं क्योंकि व्यक्ति मरनेवाला है और समाज ही अमर है।

इसलिये राज्य व्यवस्थामें समाजकी संघटना बढे और व्यक्तिको भी आवश्यक स्वातन्त्र्य मिले ऐसी योजना करनी चाहिये।

व्यक्तिको आवश्यक स्वातन्त्र्य मिलनेसे व्यक्तिका विकास होगा और समाजकी संघटना होनेसे समाज भी बलवान् बन जायेगा। इस तरह समन्वयसे दोनोंका लाभ होगा और यह राष्ट्र विशेष प्रभावी बनेगा।

इकत्तीसवाँ सिद्धान्त–' सुवर्ण लोभके त्यागसे सत्यधर्मका दर्शन '

३१ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

' सुवर्णके पात्रसे सत्यका मुख ढका है । हे पोषक ! सत्य धर्मके दर्शनके लिये वह ढक्कन तू दूर कर (और सत्यका दर्शन कर) ।'

(३१) विश्वरूपी चमकीले सुवर्णके आच्छादनसे सत्य स्वरूप परमात्मा छिपाया है यह विवेकी लोग सब जानते हैं । व्यवहारमें अनेक अपराधी सुवर्ण दानसे निर्दोषी होकर मुक्त हो जाते हैं। यह भी प्रसिद्ध बात है इसलिये सत्य देखनेकी जिसको इच्छा हो, वह उस सुवर्णके ढक्कनको दूर करे और सत्य देखें।

राज्य व्यवहारमें जिन अधिकारियोंको सुवर्णका लोभ नहीं होगा, वे ही सत्य निर्णय कर सकेंगे, इसलिये ऐसे ही निर्लोभ सज्जनोंको अधिकार स्थानपर नियुक्त करना उचित है । राज्यके प्रबंध कर्ता अधिकारीकी नियुक्ति करनेके समय इसका अवश्य विचार करें और निर्लोभी अधिकारी ही स्थानापन्न करे।

जो धन–लोभसे सत्यको दबायेंगे उनको योग्य दण्ड देकर राज्य प्रबंधकी पवित्रता चिरस्थायी करनी उचित है । अन्यथा सुवर्ण प्रयोगसे सत्यको दबाया जायगा और राज्य व्यवस्था भ्रष्टाचारके दोषसे दूषित होगी और पतित होगी ।

बत्तीसवाँ सिद्धान्त = ' कल्याणकारी रूपका दर्शन '

३२ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

' हे एक अद्वितीय ज्ञानी नियामक तेजस्वी पोषणकर्ता प्रजापालक प्रभो ! अपने चमकीले तेजस्वी किरणोंको समेटकर एक ओर कर । जो तुम्हारा कल्याणतम स्वरूप है वह मैं देखना चाहता हू । जो इस जगत्प्राणरूपी आदित्यमें पुरुष है वही मैं हू ।'

(३२) ईश्वर सबका पोषक, अद्वितीय ज्ञानी, सबका नियामक, तेजस्वी, सबका पालक है। उसके दो स्वरूप हैं।

(द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे) एक तेजोमय बाह्य दृश्य स्वरूप है और दूसरा आंतरिक कल्याणमय आनन्द स्वरूप है। एक प्रखर स्वरूप है और दूसरा शान्त व सौम्य है। यह स्वरूप साधक देखना चाहता है। यह साधक भगवान् जगत्प्राण जगदात्मा सूर्यनारायणमें जो प्राण है उसी प्राणको धारण करनेवाला यहां साधक होकर खड़ा है। वही इस शान्त स्वरूपको देखना चाहता है।

इसी तरह राष्ट्रके शासक केंद्रमें देखिये। यह शासक राष्ट्रका पालन पोषण करता है अद्वितीय ज्ञानी इस शासनका कार्य करते हैं, वे ही सब शासक संस्थाका नियमन करते हैं। वे ही सबको प्रेरणा देते हैं और संचालन करते हैं। इस संस्थाके दो विभाग हैं एक बाहरका चमकीला विभाग है, इसमें सैनिक, अधिकारी, संरक्षकदल, राजसभा, कारागृह, दण्ड, घोषणा आदि चमकनेवाला एक भाग है। इसमें दिखावा है, भय है, चमकाहट है। आखें चकाचौंध होती हैं इसके दिखावेसे। इस दिखावेको एक ओर करके दूसरा जो राज्यशासनका गुप्त कल्याणमय भाग है वह कितना प्रभावी है वह देखना चाहिये। इससे प्रजाका सच्चा आत्मिक कल्याण कितना हो रहा है, सुख आराम आनन्द और शान्ति कितनी प्रजाको मिल रही है इसका निश्चय करना चाहिये। प्रजाका सच्चा हित कितना हो रहा है वह देखनेसे और विचार करनेसे इसका पता लग जाता है। बाहरका दिखावा दूर करना और अन्दरकी शान्तिका पता लगानेसे इस शान्त स्वरूपका पता लग जाता है। यही राज्यशासनमें देखने योग्य बात है।

मानवोंकी आवश्यकताएं मानवोंको मिलती हैं या नहीं, मानवताका मूल्य बढ रहा है या घट रहा है, मानवोंमें शान्ति व आनन्द बढ रहा है या घट रहा है इसका विचार करनेसे आन्तरिक स्वरूपका पता लग सकता है।

राज्यशासनका कल्याणमय सत्य स्वरूप यह है। चमकीले स्वरूपको दूर कर इसका ही विचार करना चाहिये।

राज्यशासनके केद्रमे जो प्रबंधकर्ता कार्य कर रहे है वे वहा बैठकर कार्य कर रहे हैं। तथापि उनको नियुक्त करनेवाला मैं हू। उनका निर्माण कर्ता मैं हूं। अर्थात् वह और मैं मूलत. एक ही हू। मैंने उनको वहा नियुक्त किया है अतः उनका कार्य कैसा हो रहा है उसका मैं निरीक्षण करना चाहता हू। इस निरीक्षण करनेका मुझे अधिकार है। मैंने जो कार्यालय निर्माण किया उससे सच्चा कल्याणरूप कार्य कहातक हा रहा है, यह मैं देख रहा हू। प्रजा ही अपने शासकोका निर्माण करती है। अत प्रजा ही अपने निर्माण किये शासक कैसा कार्य कर रहे है इसका निरीक्षण करनेकी अधिकारिणी है। शासको द्वारा सच्चा कल्याण कहातक हो रहा है इसका देखना प्रत्येक प्रजाजनका कर्तव्य ही है। बाहरके दिखावेको न देखकर अन्दरका सच्चा स्वरूप देखना चाहिये। यदि सच्चा कल्याण न होता हो, तो इसका पुन. विचार करना चाहिये और सच्चा कल्याण हो ऐसी प्रबंधकी सुव्यवस्था करनी चाहिये।

तैतीसवाँ सिद्धान्त = ' प्राण अमृत और भस्मान्त शरीर '

३३ वायुरनिलममृतं अथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

' प्राण अपार्थिव अमृत है और यह शरीर भस्म होनेवाला है। '

(३३) मानव शरीरके दो भाग है एक भाग स्थूल है जो भस्म होनेवाला है और दूसरा एक भाग है जो अमृतरूप आनन्दमय है। शरीर-इंद्रिया मन यह नष्ट होनेवाला भाग है, और प्राण-बुद्धि-आत्मा यह अमृत स्वरूप आनन्दमय भाग है। इसलिये व्यक्तिने अपने शरीरको तथा प्राणादिको शक्तिवान् बनाकर उससे समष्टिरूप विश्वात्माकी सेवा करनी चाहिये। व्यक्ति समष्टिकी सेवा करनेके लिये है। अपना शरीर जितना इस विश्व सेवामे लगेगा, उतना लगाना चाहिये। इसमे कसूर नहीं होना चाहिये। शरीर वैसा ही रखा तो भी उसका नाश या भस्म होगा और यदि उससे

विश्वसेवाके कार्य लिये तो भी वह विनष्ट होगा या भस्म होगा ही । इसलिये उससे विश्वसेवा जितनी अधिक हो सकती है उतनी लेना ही उचित है । इसीसे जीवितका सार्थक होना संभव है। जीवनका परम कल्याण समष्टिकी सेवासे ही है ।

चौंतीसवां सिद्धान्त = ' कृत कर्मका स्मरण '

३४ ॐ क्रतो स्मर, कृतम्स्मर क्रतो स्मर, कृतम्स्मर ॥ १७ ॥

'हे कर्म करनेवाले साधक। ओंकारका स्मरण कर, क्या किया है उसका स्मरण कर, हे कर्म करनेवाले साधक! जो पूर्व समयमें किया है उसका स्मरण कर ।'

(३४) मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है, इसलिये उसका नाम 'क्रतु' है। सब मनुष्य कर्म करते हैं, इसलिये सब क्रतु कहलाते हैं। मनुष्य शुभ कर्म न करेगा तो अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट हुआ ऐसा समझना चाहिये। इस मनुष्यको ' ॐ ' कारका स्मरण करना चाहिये। ओंकारमें ' अ–उ–म ' ये तीन अवस्थाएं हैं। ' अ ' (जाग्रति या स्थूल), ' उ ' (मध्यस्थिति, स्वप्न या सूक्ष्म), और ' म ' (बौद्धिक, आत्मिक, सुषुप्ति अवस्था) दर्शायी जाती है। इन तीनों अवस्थाओंपर राज्यशासनका परिणाम क्या हो रहा है, अर्थात् राज्यशासनसे इनमें उन्नति होती है या अवनति होती है, इनमें शान्ति होती है अथवा घबराहट हो रही है यह देखना चाहिये। मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि मैंने जो भूतकालमें कार्य किया उसका क्या परिणाम हुआ और आज जो मैं कर रहा हूं उसका परिणाम भविष्यमें क्या होगा। इसी तरह राज्यप्रबंधक विषयमें भी देखना और अपने द्वारा सुयोग्य कर्म होते रहें ऐसा प्रबंध करना योग्य है।

पैंतीसवां सिद्धान्त = ' मार्गकी शुद्धता '

३५ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

' हे तेजस्वी प्रभो ! हमें ऐश्वर्य प्राप्त होनेके लिये उत्तम मार्गसे ले जा।'

(३५) मनुष्योंको ऐश्वर्य चाहिये, परन्तु वह (सुपथा) उत्तम शुद्ध मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। कदापि अशुद्ध मार्गसे धन प्राप्त करना उचित नहीं है। ध्येय भी शुद्ध चाहिये और उसकी प्राप्तिका मार्ग अथवा साधन भी शुद्ध चाहिये।

छत्तीसवां सिद्धान्त = 'कर्मोका परीक्षण'

३६ विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्

'हे प्रभो! तू सबके कर्म जानता है।'

(३६) मनुष्योंके कर्म अच्छे हैं या बुरे हैं इसका ज्ञान प्रभुको निःसंदेह रूपसे होता है।—

इसी तरह राज्यशासनमें भी न्यायाधीश द्वारा लोगोंके कर्मोका निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिये। जिनके कर्म अच्छे हों उसका अभ्युदय और जिनके हीन कर्म हों उनका अवनत स्थान हो। इससे उत्तम शुभ कर्म करनेकी रुचि जनतामें बढेगी। कर्मोकी परीक्षासे मानवोंकी उच्च नीचता सिद्ध होती रहे।

सैंतीसवां सिद्धान्त = 'कुटिलताको दूर करना'

३७ युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।

'हमसे कुटिलता और पाप प्रयत्नपूर्वक दूर करा दो।'

(३७) मनुष्योंमें जो कुटिलता, टेढापन, वक्रता, और पाप आदि दोष हों उनको प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिये, उनसे युद्ध कराकर उनको दूर भगाना चाहिये। ये दोष दूर हों इसलिये जाग्रत रहकर प्रयत्न करना चाहिये।

राज्यशासनसे भी कुटिलता, कपट, टेढीचाल, भ्रष्टाचार, पाप, रिश्वतखोरी, कालाबाजार आदि दोष प्रयत्नपूर्वक दूर करने चाहिये।

अडतीसवां सिद्धान्त = 'ईश्वरकी भक्ति'

३८ भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

'हे प्रभो! तुम्हें मैं नमन करता हूं, (तेरी स्तुति करता हूं)।

(३८) मनुष्य ईश्वरकी भक्ति करे, उसे नमन करे, उसके गुणोंका चिंतन करे, उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करे ।

राज्यशासनमें भी ईश्वरभक्तिके लिये स्थान चाहिये। ईश्वरके लिये नमन करना, ईश्वरके सन्मुख नम्र होकर अपना कर्तव्य करना चाहिये। ईश्वरको सदा अपने सन्मुख देखकर अपना कर्तव्य सुयोग्य रीतिसे करना चाहिये ।

शान्ति मन्त्र

' यह ब्रह्म पूर्ण है, यह विश्व पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्मसे यह पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है । पूर्णसे जो उत्पन्न होता है वह पूर्ण ही होता है। उस पूर्ण ब्रह्मसे इस पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होनेपर भी उस ब्रह्ममें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई, वह वैसाका वैसा ही पूर्ण रहा है। '

व्यक्तिमें शान्ति हो, समाजमें शान्ति रहे और विश्वमें शान्ति स्थापन हो।



ईशोपनिषद्ने बताये राज्यशासनके

तत्त्व

१ राजा और राज्याधिकारी कैसे हों ?

(ईश,म. १) जिसमे शासन करनेका सामर्थ्य अच्छा हो वह शासक बने,
(शुक्र, म. ८) शुद्ध, स्वच्छ, निर्दोष, सामर्थ्यवान, बलवान्, वीर्यवान्,
(शुद्ध) शुद्ध, पवित्र, निर्दोष, (अपापविद्ध) निष्पाप (कविः)
ज्ञानी, अतीन्द्रियार्थ दर्शी कवि, विद्वान्, काव्यनिपुण, (मनीषी) मननशील,
बुद्धिवान, मनका संयम करनेवाला, इन्द्रिय दमन करनेवाला, मनपर प्रभुत्व
रखनेवाला, (परिभूः) प्रभावी, अन्योंपर प्रभाव रखनेवाला, शत्रुका
पराभव करनेवाला, शत्रुको पराजित करनेवाला, विजयी दिग्विजयी,
(स्वयंभूः) स्वयं अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाला, अपने कार्यके लिये
दूसरेपर अवलंबन न करनेवाला स्वावलंबी, दूसरोंके सहायसे ही चलनेवाला
अपनी शक्तिसे स्वयं सब कार्य करनेवाला, स्वयंप्रभु, स्वयंस्फूर्तिसे कार्य करने
वाला, (पूषा मं. १६) पोषण करनेवाला पोषणका मार्ग सबको दर्शानेवाला,
जनताका पोषण करनेवाला, (एकः ऋषिः) एक, अद्वितीय ज्ञानी, दूरका
देखनेवाला भविष्यका जाननेवाला, सूक्ष्म दृष्टिवाला, (यमः) नियामक, सबका
नियमन करनेवाला, अपराधियोंको दण्ड देनेवाला (प्राजापत्य. प्रजापतिः)
प्रजाजनोंका उत्तम पालन करनेवाला, प्रजापालनके कार्यमे तत्पर रहनेवाला,
(अनेजत्, मं. ४) न डरनेवाला, न कांपनेवाला, निर्भय, निडर रहकर
कार्य करनेवाला, (एकः) अद्वितीय, जिसके समान दूसरा कोई नहीं है,
(मनसः जवीयः) मनसे वेगवान्, जिसमे मनका वेग अधिक है, (अर्षत्)
गतिमान्, प्रगतिशील, ज्ञान प्रचारक, ज्ञानदाता, (तिष्ठत्) स्थिर, अचल,
जिसमे चञ्चलता नही है, (धावतः अन्यान् अत्येति) जो दौडनेवाले
शत्रुओंका अतिक्रमण करके उनके परे पहुंचता है, जिसपर गुण्डे हमला नहीं

कर सकत, जा दुष्टोको चारो ओरसे घेर सकता है। ऐसे गुणोंसे युक्त राजा, पध्यक्ष तथा राजपुरुष होने चाहिए ।

२ राष्ट्रकी शिक्षा-प्रणाली

राष्ट्रकी शिक्षा प्रणालीमें (म ९-११) प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान इन दोनोंका योग्य समन्वय किया जाय । केवल प्रकृति विज्ञान बढ गया, तो भोग विलास बढेंगे व स्पर्धा बढनेके कारणें युद्ध बढ जायेंगे और केवल आध्यात्मिक ज्ञानही राष्ट्रमें बढ गया तो ऐहिक अभ्युदयकी ओर दुर्लक्ष्य होगा, जिससे एहिक सुख भी नहीं प्राप्त होगा । ये दोनों भय हैं । इनको दूर करनेके लिये राष्ट्रीय शिक्षामें भौतिक और आत्मिक विद्याओंका सम वय करना योग्य है । इससे प्रजाजनोंमें अभ्युदय और निःश्रेयसका सम विकास होगा और एहिक सुख और आत्मिक शान्ति प्रजा जनोंका प्राप्त होगी । दोनों विद्याओंका समविकास राष्ट्रमें करनेसे सबका लाभ है । इसलिये एक राष्ट्रव्यापी शिक्षाका नियोजन करना चाहिये ।

३ ध्येय और मार्गकी शुद्धता

(म २) मनुष्योंको अनेक प्रकारके श्रेष्ठतम कर्म करने चाहिये । सर्वजनहित करनेका ही इनका उद्देश हो । इनसे सब जनोंका धन ऐश्वर्य और सुख बढे । कोई दुःखी न रहे ।

(म १८) जो धन प्राप्त करना है वह शुद्ध मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये । ध्येय भी शुद्ध हो और मार्ग भी शुद्ध हो । अपवित्रता, पाप, भ्रष्टाचार, कुटिलता आदि दोष न हों ।

राज्यव्यवस्थामें ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि जिससे कोई भी अपवित्र मार्गसे न जा सके ।

४ आर्य और अनार्यकी परीक्षा

प्रजाजनोंमें गुणकर्म स्वभावसे आर्य कौन हैं और अनार्य कौन हैं इसकी

प्रजापतिने परीक्षण करना चाहिये। आसुरी और दैवी मार्गसे कौन चल रहा है इसका निरीक्षण भी वह करे। इनको पृथक् रखना और इनके अधिकार भी पृथक् होने चाहिये। दैवी मार्गपर चलनेवालोंको विशेष सहूलियतें मिलें और आसुरी मार्गसे जानेवालोंपर अधिक नियमन रखे जाय। (म ३)

समाज-व्यवस्था

५ समाज और व्यक्तिका संबंध

(*जगत्यां जगत्*, म. १) *समाजके आधारसे व्यक्ति रहता है। कोई व्यक्ति समाजके बिना जीवित नहीं रह सकता। व्यक्ति (विनाशः, म १४) विनष्ट होनेवाला है। कितना भी यत्न किया जाय तो व्यक्ति चिरस्थायी नहीं रह सकता।* परन्तु समाज (संभूत्या अमृत। म १२) अमर है। जाति सदा टिकनेवाली है। (सं-भूतिः) संघ करके रहना समाजकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। (असंभूतिं उपासते ते अन्धंतमः प्रविशन्ति। म १२) जो केवल व्यक्तिशः पृथक् पृथक् रहते हैं वे विनष्ट हो जाते हैं। परन्तु (ये संभूत्यां रताः त ततः भूयः) जो केवल समाज संगठनमें मग्न होते हैं वे उससे भी अधिक अवनत होते हैं। इसलिये (उभयं सह वेद) व्यक्ति स्वातंत्र्य और संघबल इन दोनोंकी उपयोगिता जो जानते हैं, वे दोनोंका समन्वय करते हैं और वैयक्तिक उत्कर्षसे व्यक्तिकी प्रगति करते हैं और संघशः संगठन करके समाज और राष्ट्रको सामर्थ्यवान् बनाकर अमर बनते हैं। (म. १२-१४)

६ त्याग और भोग

(**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**। मं १) समाजके आधारसे व्यक्ति रहता है। इसलिये व्यक्ति अपने भोगोंको समाजके लिये समर्पण करे, अपने भोगोंका समाजहितके लिये यज्ञ करे और ऐसा यज्ञ करके जो अवशिष्ट रहेगा उसका अपने लिये भोग करे। (**मा गृधः**) लोभ न करे। लोभसे दुःख बढते हैं।

(कस्यस्वित् धनं) प्रजापतिका प्रजापालनमें व्यय करनेके लिये सब धन है, जो धन यहां है उसका उपयोग सब प्रजाजनोंकी उत्तम पालना करनेके लिये होना चाहिये। धन किसी व्यक्तिका नहीं है, व्यक्ति धनकी विश्वस्त रह सकती है।

(मं. १५) सुवर्णसे सत्य ढक जाता है। सुवर्णके लोभसे जगत्में अनर्थ होते और दुःख बढ जाते हैं। इसलिये सुवर्णका प्रलोभन दूर करना चाहिये और सत्यका दर्शन करना चाहिये। सत्य नित्य मार्गदर्शन करता रहे।

(अपापविद्धं। मं. ८) पापका आचरण कोई न करे। (शुद्धं) शुद्ध और पवित्र आचरण करे।

७ राज्यशासन कैसा हो ?

(मं ५) राज्यशासनद्वारा प्रजाजनोंको उन्नतिकी सब योजनाओंको प्रेरणा मिलती रहे, परंतु राज्यशासन स्वयं कभी चञ्चल तथा अस्थिर न हो। वह केंद्रमें तथा बाहर एक जैसा प्रभावी रहे। वह जैसा समीप वैसा ही दूर समान तथा कार्यक्षम रहे। (मं ६) सब प्रजाजन उसकी सहायतासे उन्नत होते रहें, तथा सब प्रजाजनोंमें उस राज्यशासनके विषयमें आदरका स्थान रहे। (मं ७) सर्व प्रजाजन तथा राज्यके शासक इनकी एकात्मता रहे। इनमें कभी विरोध न हो। प्रजा और राज्यशासक इनमें पूर्णरूपसे अविरोध रहे। (मं. ८) राज्यशासन (धावतः अन्यान् अत्येति) दौडनेवाले अन्य शत्रुओंसे भी अधिक वेगवान् हो, अर्थात् अन्य शत्रु जितने वेगसे गति करते हैं उससे अधिक वेगसे अपनी प्रगति हो। शत्रु या गुण्डे जितने वेगसे कार्य करेंगे उससे अधिक वेगसे राज्यशासक उन अपराधियोंको पकडनेमें सदा दक्ष रहें। जितनी प्रगति अन्य लोग कर सकते हैं उससे अधिक प्रगति अपने राज्यशासक करते रहें। कदापि गुण्डोंके पास अधिक वेगके साधन न हों, उनसे अधिक वेग अपने राज्यशासकोंका हो। अर्थात् वे अन्य लोग अपने शासकोंके सन्मुख कुण्ठित गति हो जावे।

अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्य समाभ्यः (म ८)

शाश्वत रहनेवाली अर्थव्यवस्था अपने राष्ट्रमें शुरू की जाय।

राज्यशासन ऐसा उत्तम हो कि जिसकी योजनासे व्यक्ति तथा समाजकी अखण्ड उन्नति होती रहे और किसी तरह अवनति न हो। व्यक्ति स्वातंत्र्य और संघवाद ये राष्ट्रमें पृथक् पृथक् और परस्पर विरोधी न रहें, परंतु इसमें परस्पर सहकार्य हो जिससे दोनोंसे जनताका लाभ ही होता रहे। प्रजाकी व्यक्तिशः उन्नति हो और सांघिक शक्ति भी बढे ऐसी योजना राज्यप्रबंधके द्वारा होनी चाहिये। राज्यशासनका ध्येय ऐसा हो कि जिससे व्यक्ति और संघ दोनों उन्नत होते रहें।

राज्यशासन प्रभावी और प्रबल चाहिये। वह थोडेसे गुण्डोंके गुण्डपनसे न टूटे। इसी तरह राज्यशासनका प्रभाव गुण्डोंपर जमा रहे और वे गुण्डपन न कर सकें, इतने वे दबे रहें अथवा पूर्ण रूपसे सुधर जाय।

८ राष्ट्रका आरोग्य

राज्यशासनके द्वारा राष्ट्रका आरोग्य बढाया जाय और रोग कम करनेका प्रयत्न होता रहे। स्वास्थ्य बढे और औसत आयु १०० वर्षोंकी बने। (म २)

इस तरह ईशउपनिषद्ने राज्यशासनकी रूपरेखा बतायी है और यह परमात्माके वर्णनके मिषसे बतायी है। इसका विचार पाठक करें और मनन करके इससे भी अधिक बोध प्राप्त करें।

सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबको कल्याणका मार्ग दीखे,

और कोई दुःखी न हो।

बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा

(वेद तथा उपनिषदादि भारतीय अध्यात्म शास्त्रके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित चिरस्थायी अध्यात्मतत्त्वोंपर अधिष्ठित एक उत्तम 'बहुपाय्य-स्वराज्य-व्यवस्था' है। इस तरहकी स्वराज्य व्यवस्था अपने देशमें स्थापित करनेके लिये एक पक्ष कार्य कर रहा है ऐसा मानकर, वह स्वराज्यपक्ष अपने पक्षकी घोषणा वैदिक सिद्धान्तोंके आधारपर किस तरह करेगा, इसकी घोषणामें कौनसे विशेष तत्त्व होंगे, इसकी चिन्ता विचारशील व्यक्तियोंके मनमें उत्पन्न होती है। इसलिये विशेषतः ईशोपनिषद्के अनुसार साथ साथ भगवद्गीताका सहारा लेकर भी ' बहुपाय्य-स्वराज्य पक्षकी घोषणा ' यहाँ हम प्रस्तुत करते हैं।)

हमारी घोषणा

हमारा ' बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्ष ' ऋषिकालमें स्थापित हुआ और हमारे पक्षने उसी समय यह घोषणा प्रकाशित की—

१— हमारा ध्येय

हमारे पक्षका ध्येय (शान्ति शान्तिः शान्ति) ' विश्वमें चिरस्थायी शान्ति स्थापित करना ' है। इस साध्यको सिद्ध करनेके लिये हम सबसे प्रथम अपने भारतीय समाजमे तथा भारत राष्ट्रमे स्थायी शान्ति स्थापित करेंगे और इसका प्रारम्भ एक एक व्यक्तिके अन्तःकरणमें समत्वपूर्ण एकात्मताका भाव प्रस्थापित करनेसे होगा। इसीकी सिद्धिके लिये हम अपने राष्ट्रमे आध्यात्मिक तत्त्वोंपर अधिष्ठित * बहुपाय्य-स्वराज्य-शासन शुरू करना चाहते हैं क्योंकि सुयोग्य स्वराज्य शासन अपने हाथमे रहे बिना न तो हम राष्ट्रमे शान्ति स्थापन कर सकेंगे और नहीं व्यक्तिमे एकात्मता स्थापन कर सकेंगे, फिर विश्वमे शान्ति स्थापन करना तो दूरकी बात है।

---

* बहुपाय्ये स्वराज्ये (ऋ० ५।६६।६ रातहव्य आत्रेय ऋषिकी घोषणा)

२— यह विश्व पूर्ण है

हमारे बहुपाय्य–स्वराज्य–पक्षका मन्तव्य यह है कि यह विश्व जैसा चाहिये वैसा, मानवीय उन्नतिके सब साधनोंसे परिपूर्ण है, इस विश्वमें किसी तरहकी न्यूनता नहीं है। (पूर्णं अदः पूर्णं इदम्) क्योंकि यह पूर्ण विश्व पूर्ण परमेश्वरका बनाया हुआ है। इस कारण यह सर्वत परिपूर्ण है। इसमें किसी तरहका दोष नहीं है। इस साधनसे ही हमने अपनी व्यक्तिश, संघश. तथा राष्ट्रश. उन्नति करनी है। दोष मनुष्यकी सदोष साधनामें होता है; इसलिये हम ऐसा यत्न करेंगे और अपने समाजको ऐसे अनुशासनमें ले आयेंगे कि, जिस अनुशासनमें रहकर मनुष्य साधनामें दोष नहीं करेंगे; अथवा प्रयत्न करनेपर भी यदि दोष होगा, तो कमसे कम हो सकेगा। इस हेतुकी सिद्धिके लिये हम अनुशासनमें चलनेवाला समाज बनायेंगे। यह हमारा सबसे पहला कार्य होगा।

३— प्रशासन शक्तिवाला शासक होगा

(ईशा वास्यं इदं सर्वं यत्किंच) जिसमें प्रशासन करनेकी शक्ति होगी, वही इस संसारमें ठीक तरह शासनका कार्य कर सकता है। इसलिये हम अपने भारतदेशमें अपना भारतीय समाज अच्छी तरहसे अनुशासनयुक्त और उत्तम सुसंगठित बनायेंगे; जिससे अपने समाजमें प्रशासन करनेकी शक्ति बढ़गी और अनुशासनमें रहकर अपना कर्तव्य करनेका उसका सहज स्वभाव भी बन जाएगा।

४— व्यक्ति और समाजका संबन्ध

(जगत्यां जगत्) समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहता है। व्यक्ति समाजके आधारके विना कभी नहीं रह सकता। इसलिये हमारा ध्येय यह होगा, कि अपना समाज अच्छी तरह सुसंगठित हो और व्यक्तिको समाजके संगठनका बढ़ानेके लिये तथा सेवा करनेके लिये अनुशासनबद्ध किया जाए। व्यक्तिको अपना तन मन, धन, समाजकी परम उन्नति करनेके लिये समर्पण करना होगा। हमारे राज्यप्रबन्धमें व्यक्ति समाजकी परम उन्नतिके लिये ही रहेगा। समाजका

परम उन्नतिके विरोधमें व्यक्ति खडा न रह सकेगा'। व्यक्तिकी शक्ति इसी-लिये विकसित करनी है कि उससे समाज शीघ्र ही परम उन्नतिको प्राप्त हो।

५— त्यागसे भोग

(त्यक्तेन भुञ्जीथाः) हमारे राज्यशासनमें व्यक्ति समाजकी परम उन्नतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करेगा और समाज प्रत्येक व्यक्तिकी सब परम आवश्यकताओंके लिये आवश्यक भोग साधन देता रहेगा। किसी व्यक्तिको अपने योगक्षेमकी चिन्ता नहीं रहेगी (तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहं) क्योंकि अनुशासनमें रहकर समाजकी सेवा करनेवालोंके योगक्षेमके लिये हमारे राज्यशासनमें राज्यशासन ही उत्तरदायी रहेगा।

६— लोभका त्याग

(मा गृधः) प्रत्येक व्यक्तिको उचित है कि वह सब प्रकारका लोभ छोड देवे। हमारे राज्यप्रबंधसे ही राष्ट्र-सेवा करनेवालोंकी सब योग्य आवश्यकताओंको पूर्ण किया जाएगा। हमारे राज्यशासनमें प्रत्येक-व्यक्ति अपने योगक्षेमकी चिन्तासे मुक्त रहेगा। प्रत्येक व्यक्तिको अनुशासनमें रहकर अपना नियत कर्तव्य उत्तम रीतिसे करना होगा।

७— सब धन राष्ट्रका है

(कस्य प्रजापतेः स्वित् धनं) सब धन राष्ट्रका है और वह प्रजा-पालक संस्थाके पास रहेगा। सब धनका उपयोग प्रजाकी उत्तम पालनके लिये ही होगा। यदि धन किसी व्यक्तिके पास हो तो वह उसका विश्वस्त रहेगा, स्वामी नहीं।

८— कुशलतासे कर्म करना

(इह कर्माणि कुर्वन्नेव) यहां हमारे इस राज्यशासनमें प्रत्येक मनुष्यको अपने गुण, कर्म, स्वभाव, प्रवृत्ति तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार किसी न किसी सर्वजनहितकारी कर्ममें कौशल्य अवश्य प्राप्त करना होगा और यह कर्म उसे समाजकी परम उन्नति सिद्ध करनेके लिये करना होगा। योग्य

कर्मका योग्य फल कर्मकर्ताको अवश्य मिलेगा। ऐसे कुशल कार्यकर्ताको योग्य कार्य देने, और उसका उसकी योग्यतानुसार योगक्षेम चलानेके लिये हमारा राज्यशासन सदा उत्तरदायी रहेगा। जो स्वस्थ रहनेपर भी किसी भी कर्ममें कुशल नहीं होंगे, उनके योगक्षेमके लिये हमारा राज्यशासन उत्तरदायी नहीं रहेगा। कर्मकी कुशलता सम्पादन करनेके मार्ग सबके लिये सदा खुले रहेंगे।

९— सौ वर्षोंकी पूर्ण आयुकी प्राप्ति

(शतं समाः जिजीविषेत्) हमारे राज्यशासनमें प्रत्येक मनुष्य सौ वर्ष जीनेकी महत्वाकांक्षा धारण करें। ग्राम, नगर, पत्तन क्षेत्र राष्ट्रके उत्तम स्वास्थ्य रक्षाका सब सुयोग्य प्रबन्ध तथा राष्ट्रीय आरोग्य संवर्धनका उत्तम नियोजन हमारा राज्यशासन करेगा। परन्तु प्रत्येक नागरिकको राज्य-शासनके स्वास्थ्य सुरक्षाके नियोजनके अनुसार अनुशासनमें रहना होगा। बालमृत्यु, अकालमृत्यु तथा सांसर्गिक रोगोंको, साथ ही यावच्छक्य अन्य रोगोंको भी दूर करनेका प्रबन्ध हमारा राज्यशासन करेगा। इस विषयके सब अनुशासन जनताको पालन करने होंगे। भारतराष्ट्रकी औसत आयु सौ वर्षकी करनेके लिये हमारा राज्यशासन सदा प्रयत्नशील रहेगा।

१०— कर्ताकी दोषसे मुक्ति

(न कर्म लिप्यते नरे) हमारे राज्यशासनके अनुशासनके अनुसार उत्तम कुशलतासे सर्वजनहित साधनके लिये कर्म करनेवालेको कर्मका दोष नहीं लगेगा। उस कर्मके कर्ताको उत्तम कर्म करनेका यश ही मिलेगा। ऐसे कर्मके परिणामके लिये हमारा राज्यशासन उत्तरदायी होगा।

११ दूसरा मार्ग नहीं है

हमारा राज्यशासन भारतराष्ट्रकी परम उन्नतिके लिये ही केवल होगा। इसका स्वरूप पूर्वोक्त दस घोषणाओंसे प्रकट हुआ है। सच्ची उन्नतिका यही दशविध उपाय है। (न अन्यथा इतः अस्ति) इससे विभिन्न उन्नतिका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। सब जनता (एवं मनसि धारयतु) इसपर पूर्णरूपसे विश्वास रखे और भारतराष्ट्रकी परम उन्नति करनेमें हमारे साथ रहे। हम

निःसन्देह इस पद्धतिसे अपने राष्ट्रकी परम उन्नति अल्प समयमें करके दिखा देंगे।

१२— आसुरी लोगोंकी पृथक् गणना

(असुर्या अन्धेन तमसा आवृता लोकाः) जो आसुरी वृत्तिके अज्ञानी गुण्डे लोग होंगे, यदि उन्होने दैवी सन्मार्गका आचरण स्वीकार न किया तो उनकी असुरवर्गमें गणना की जाएगी और उन्हें नागरिकत्वके अधिकार न रहेंगे; जो कि सुरवर्गके लोगोंको होंगे। उनके लिये उन्नतिका मार्ग खुला रहेगा। परन्तु जो असुरवर्गमें रहेंगे वे नागरिक नहीं माने जाएंगे। अत. उचित यह है कि सब जनता सुरवर्गका रहन सहन स्वीकार करे। हमारे राज्यशासनमें किसीको भी उन्नति करनेके लिये प्रतिबन्ध नहीं होगा। सदा सर्वदा उन्नतिके द्वार सबके लिये खुले रहेंगे।

१३— न डरनेवाला शासन

हमारा राज्यशासन एक जैसा सबके लिये समान निर्भयवृत्तिसे चलता रहेगा। किसीके डरसे या अन्य प्रलोभनके कारणसे उसमें (अनेजत्) परिवर्तन न होगा।

१४— अद्वितीय शासन

(एकं) हमारा राज्यशासन अद्वितीय होगा, क्योंकि इसका एक ही ध्येय है और वह है भारतराज्यको सर्वांगीण परम वैभवशाली बनाना। हमारे पक्षके सब व्यवहार इस एकमात्र ध्येयके लिये साधक होते रहेंगे।

१५— मनसे भी वेगवान्

(मनसः जवीयः) हमारे राज्यशासनके सब अधिकारी ऐसे चुने होंगे कि जिनके मनका वेग बहुत होगा। जो स्फूर्तिवाले होंगे और निरुत्साहका नाम भी उनके पास न होगा। क्योंकि तभी भारतके शासनका कार्य पूर्णतः निर्दोष होगा।

१६— अन्योंको अधिकारके स्थान नहीं मिलेंगे

(न अन्ये पमत् आप्नुवन्) कोई दूसरे–विदेशी या सदा परकीय वृत्तिसे

रहनेवाले–हमारे इस अध्यात्म–अधिष्ठित, इस सर्वांगपूर्ण राज्यशासनके अधिकारोंको प्राप्त न कर सकेंगे। अर्थात् जो भारतको अपनी मातृपितृभूमि नही मानते वे अन्य लोग इस राज्यशासनके अधिकारी पदपर नहीं रखे जाएंगे इसी तरह अधिकारियोंको राज्यशासन विधान करनेका अधिकार नही रहेगा।

१७— गुण्डोंको घेरनेका सामर्थ्य

(धावतः अन्यान् अत्येति) गुण्डे कितने भी तेज दौडनेवाले यदि हुए तब भी हमारे इस राज्यशासनके अधिकारी उनको घेरकर पकडनेका सामर्थ्य रखेंगे। इसलिये हमारे राज्यशासनमें सब प्रजा सच्ची शान्तिका अनुभव लेती रहेगी। अतः सब प्रजाजन हमारे पक्षमें आ जाएं और उत्तम राज्यशासनके भागी बनें।

१८— स्थायी शासन

(तिष्ठत्) हमारा राज्यशासन चञ्चल नही होगा तथा आज एक, कल दूसरा, परसों तीसरा ऐसा नही होगा। किसी एक अधिकारीकी इच्छानुसार बदलता नहीं रहेगा। अर्थात् स्थिर शासनसमितिके बनाये विधानके अनुसार स्थिर रूपसे चलता रहेगा। आवश्यक सुधारके लिये यह जागरूक भी रहेगा।

१९— कर्मोंकी धारणा

(अपः दधाति) हमारे राज्यशासनमें सबके कर्मोंका धारण होगा। करनेवालेके लिये योग्य काम मिलेगा। काम करनेपर वह व्यर्थ नही जाएगा। किये कामका योग्य फल कर्ताको मिलेगा। किये कर्म कभी विनष्ट न होंगे।

२०— स्थिर रहकर उत्साह प्रदान करना

(तदेजति, तन्नैजति) हमारा राज्यशासन सर्वहितकारी कर्मोंको प्रोत्साहन देगा, परन्तु स्वयं अपनी अनुशासनपूर्ण परिशुद्ध नीतिपर सुस्थिर रहेगा। स्वयं चञ्चल न होता हुआ दूसरोंको शुभ मार्गपर चलावेगा।

२१— समीप और दूर रहनेपर भी समान

(तद्दूरे तद्वन्तिके) हमारा राज्यशासन जैसा केंद्रमें प्रभावी होगा

+

३४— साध्य और साधनकी शुद्धता

(सुपथा राये नय) हमारे राज्यशासनमें रहकर सब लोग उत्तम शुद्ध मार्गसे धनका उपार्जन कर सकेंगे। यहाँ सबको साध्य और साधन तथा मार्गकी पवित्रता रखनी होगी। जो इस तरहकी शुद्धि नहीं रखेंगे वे दण्डनीय समझे जायेंगे।

३५— कर्मोंकी परीक्षा

(विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सबके कर्मोंका निष्पक्ष परीक्षण हमारे राज्यशासनमें होता रहेगा। मनुष्य शुद्ध और सत्यमार्गसे धनोपार्जन करते हैं या नहीं, अथवा भ्रष्टाचार कर रहे हैं इसका निर्णय सुयोग्य न्यायाधीश निष्पक्ष होकर करेंगे। इसका परिणाम कर्ताको भोगना पडेगा। हमारे राज्यशासनमें किसीके अपराध क्षमा नहीं किये जायेंगे।

३६— कुटिलता और पापसे युद्ध

(जुहुराणं एन युयोधि) जहाँ कुटिलता, भ्रष्टाचार और पाप होंगे वहाँ उनके कर्ताको क्षमा नहीं किया जाएगा। हमारे राज्यमे पवित्रमार्गसे व्यवहार करनेवाले ही आनन्दसे रह और बढ सकेंगे। पापियो और भ्रष्टाचारियोको दूर किया जाएगा। हमारे राज्यमे इस विषयमे कभी पक्षपात नहीं होगा।

३७ – ईश्वरकी भक्ति

(भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) हमारे राज्यशासनमे परमेश्वरकी भक्ति करनेके लिये योग्य स्थान अवश्य रहेगा। ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भक्ति, यज्ञ आदि जो ईश्वरभक्तिकी विधियाँ होंगी वे व्यक्तिश और संघश हमारे राज्यमें होती रहेंगी। इससे व्यक्तिके अन्तःकरणमे शान्ति रहेगी और सांघिक बल भी बढेगा। निरीश्वरवादको यहाँ स्थान नहीं रहेगा। क्योंकि 'ईशा वास्य' से ही इस घोषणाका प्रारम्भ हुआ है। अतः ईशके लिये यहाँ सदा श्रेष्ठ स्थान रहेगा। हमारा राज्यशासन ईशके गुणोपर ही अधिष्ठित हुआ है। इसलिये ईशका त्याग यहाँ सम्भव नहीं है।

लिये सुवर्णके प्रलोभनको दूर किया जायगा। हमारे राज्यशासनमें सुवर्णके प्रलोभनसे कोई सत्यको नहीं दबा सकेगा। इसलिये लोगोंको किसी तरह भी सत्य व्यवहार करनेमें कोई कष्ट न होगा।

३१— कल्याणस्वरूपका दर्शन

(पूषन् एक ऋषि यम सूर्य प्राजापत्य) हमारे राज्यशासनमें प्रजाका पोषण करने, ज्ञानदान देने, दुष्टोंका नियमन करने, प्रजाको सत्यमार्गका दर्शन कराने, प्रजाका योग्य पालन करने आदि कार्य निर्दोषताके साथ होते रहेंगे। इससे अधिकसे अधिक प्रजाका कल्याण हो रहा है या नहीं (कल्याणतमं रूपं पश्यामि) इसका निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति करता रहे; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भारतीय शासक संस्थाका एक भाग है। अतः उसको इसके निरीक्षणका अधिकार है।

३२— अमर प्राण और नाशवान् शरीर

(भस्मान्तं शरीरम्) मनुष्यका शरीर भस्म होनेवाला है और उसका (वायुः अमृतं) प्राण अमर है। इसलिये हमारे राज्यशासनमें प्रजाके शरीर दीर्घायु और दीर्घजीवी करनेका पूर्ण यत्न किया जाएगा, पर साथ साथ मनुष्यमें जो अमर अमृतमय भाग है उसका भी प्रकाश अधिकाधिक होता रहेगा। ऐसी राष्ट्रीय शिक्षाकी सुव्यवस्था की जाएगी, जिससे ऐहिक उन्नतिके साथ आत्मिक शान्तिका भी यहां लाभ होगा।

३३— सिंहावलोकन

(कृतं स्मर) किये हुए कार्यका परिणाम क्या हुआ, वह योग्य हुआ या नहीं, उसमें क्या सुधार करने चाहिए आदिका निरीक्षण करनेकी व्यवस्था हमारे राज्यशासनमें नियत समयके बाद होगी। सुयोग्य विद्वान् इस समितिमें रहेंगे और इनका जो निर्णय होगा, तदनुसार राज्यशासन-पद्धतिमें सुधार होगा। यह सुधार राष्ट्रसभाके निश्चयानुसार होगा।

३४— साध्य और साधनकी शुद्धता

(सुपथा राये नय) हमारे राज्यशासनमें रहकर सब लोग उत्तम शुद्ध मार्गसे धनका उपार्जन कर सकेंगे । यहां सबको साध्य और साधन तथा मार्गकी पवित्रता रखनी होगी । जो इस तरहकी शुद्धि नहीं रखेंगे वे दण्डनीय समझे जायेंगे ।

३५— कर्मोंकी परीक्षा

(विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सबके कर्मोंका निष्पक्ष परीक्षण हमारे राज्यशासनमें होता रहेगा । मनुष्य शुद्ध और सत्यमार्गसे धनोपार्जन करते हैं या नहीं, अथवा भ्रष्टाचार कर रहे हैं, इसका निर्णय सुयोग्य न्यायाधीश निष्पक्ष होकर करेंगे । इसका परिणाम कर्ताको भोगना पड़ेगा । हमारे राज्यशासनमें किसीके अपराध क्षमा नहीं किये जायेंगे ।

३६— कुटिलता और पापसे युद्ध

(जुहुराणं एनः युयोधि) जहाँ कुटिलता, भ्रष्टाचार और पाप होंगे, वहां उनके कर्ताको क्षमा नहीं किया जाएगा । हमारे राज्यमें पवित्रमार्गसे व्यवहार करनेवाले ही आनन्दसे रह और बढ सकेंगे । पापियों और भ्रष्टाचारियोंको दूर किया जाएगा । हमारे राज्यमें इस विषयमें कभी पक्षपात नहीं होगा ।

३७ — ईश्वरकी भक्ति

(भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) हमारे राज्यशासनमें परमेश्वरकी भक्ति करनेके लिये योग्य स्थान अवश्य रहेगा । ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भक्ति, यज्ञ आदि जो ईश्वरभक्तिकी विधियां होंगी वे व्यक्तिशः और संघशः हमारे राज्यमें होती रहेंगी । इससे व्यक्तिके अन्तःकरणमें शान्ति रहेगी और सात्विक बल भी बढेगा । निरीश्वरवादको यहां स्थान नहीं रहेगा । क्योंकि ' ईशा वास्य ' से ही इस घोषणाका प्रारम्भ हुआ है । अतः ईशके लिये यहां सदा श्रेष्ठ स्थान रहेगा । हमारा राज्यशासन ईशके गुणोंपर ही अधिष्ठित हुआ है । इसलिये ईशका त्याग यहां सम्भव नहीं है ।

सब सुखी हों,
सब नीरोग हों,
सबको कल्याण प्राप्त हो,
किसीको दुःख न हो।

(यह आध्यात्मिक-बहुराष्ट्र-स्वराज्य-संघकी घोषणा है। यह वेदके समान प्राचीन है तथापि यह आज नवीन जैसी भी है। यह ऋषियोंकी घोषणा है। इसीसे सबका कल्याण होगा)।

सूचना —यह 'बहुराष्ट्र-स्वराज्य-संघ' की घोषणा 'ईश उपनिषद्' के वचनोंपर रची गई है। पाठक इसका मनन और विचार करें।

वेदमन्त्रोंमें जो सूचनायें मिलती हैं, उनका समावेश इस घोषणामें करनेसे यह घोषणा कभी न कभी परिपूर्ण हो सकती है। आज यह केवल ईशोपनिषद्के ही वचनोंके आधारपर रची है। ईशोपनिषद्के वचन क्रमपूर्वक लिये हैं। क्वचित् शब्दोंमें थोडासा हेरफेर भी किया है जो अर्थज्ञानके लिये आवश्यक है।

वेदमें जो ईश्वरका वर्णन है, वही मर्यादित स्वरूपमें राज्यशासकका वर्णन होता है और उन वचनोंसे राज्यशासनके नियमोंका भी ज्ञान होता है। इस दृष्टिसे पाठक इस घोषणाका विचार करें।

विश्वशान्ति सत्वर स्थापित हो।

